वार्षिक रु. ५० मूल्य रु. ८.००

विवेक-ज्योति

वर्ष ४५ अंक ४ अप्रैल २००७

रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर (छ.ग.)

मंगल कामना

सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुःखभाग्भवेत्॥

सब सुखी हों।

सब रोगरहित हों।

सब कल्याण का साक्षात्कार करें।

दुःख का अंश किसी को भी प्राप्त न हो।

॥ आत्मनो मोक्षार्थं जगद्धिताय च ॥

श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द भावधारा से अनुप्राणित

हिन्दी मासिक

अप्रैल २००७

प्रबन्ध-सम्पादक

स्वामी सत्यरूपानन्द

सम्पादक

स्वामी विदेहात्मानन्द

वर्ष ४५
अंक ४

वार्षिक ५०/-   एक प्रति ८/-

५ वर्षों के लिए – रु. २२५/-

आजीवन (२५ वर्षों के लिए) – रु. १,२००/-

विदेशों में – वार्षिक १५ डॉलर, आजीवन – २०० डॉलर (हवाई डाक से) १०० डॉलर (समुद्री डाक से)

{सदस्यता-शुल्क की राशि स्पीडपोस्ट मनिआर्डर से भेजें अथवा बैंक-ड्राफ्ट - 'रामकृष्ण मिशन' (रायपुर, छत्तीसगढ़) के नाम से बनवायें}

रामकृष्ण मिशन
विवेकानन्द आश्रम
रायपुर – ४९२ ००१ (छ.ग.)

दूरभाष : ०९८२७१ ९७५३५
०७७१ - २२२५२६९, २२२४११९
(समय : ८.३० से ११.३० और ३ से ६ बजे तक)

अनुक्रमणिका

मुद्रक : संयोग आफसेट प्रा. लि., बजरंगनगर, रायपुर (फोन : २५४६६०३)

प्रिंट आर्डर – १३,००० (पूछना)

लेखकों से निवेदन

पत्रिका के लिये रचना भेजते समय निम्न बातों पर ध्यान दें –

(१) धर्म, दर्शन, शिक्षा, संस्कृति तथा किसी भी जीवनोपयोगी विषयक रचना को 'विवेक-ज्योति' में स्थान दिया जाता है।

(२) रचना बहुत लम्बी न हो। पत्रिका के दो या अधिक-से-अधिक चार पृष्ठों में आ जाय। पाण्डुलिपि फूलस्केप रूल्ड कागज पर दोनों ओर यथेष्ट हाशिया छोड़कर सुन्दर हस्तलेख में लिखी या टाइप की हुई हो। भेजने के पूर्व एक बार स्वयं अवश्य पढ़ लें।

(३) लेख में आये उद्धरणों के सन्दर्भ का पूरा विवरण दिया जाय।

(४) आपकी रचना डाक में खो भी सकती है, अतः उसकी एक प्रतिलिपि अपने पास अवश्य रखें। अस्वीकृति की अवस्था में वापसी के लिए अपना पता लिखा हुआ एक लिफाफा भी भेजें।

(५) 'विवेक-ज्योति' में प्रकाशनार्थ कविताएँ इतनी संख्या में आती हैं कि उनका प्राप्ति-संवाद देना सम्भव नहीं होता। स्वीकृत होने पर भी उसके प्रकाशन में ६-८ महीने तक लग सकते हैं।

(६) अनुवादित रचनाओं के मूल स्रोत का पूरा विवरण दिया जाय तथा उसकी एक प्रतिलिपि भी संलग्न की जाय।

(७) 'विवेक-ज्योति' में प्रकाशित लेखों में व्यक्त मतों की पूरी जिम्मेदारी लेखक की होगी और स्वीकृत रचना में सम्पादक को यथोचित संशोधन करने का पूरा अधिकार होगा।

(८) 'विवेक-ज्योति' के लिये भेजी जा रही रचना यदि इसके पूर्व कहीं अन्यत्र प्रकाशित हो चुकी हो या प्रकाशनार्थ भेजी जा रही हो, तो उसका भी उल्लेख अवश्य करें। वैसे इसमें मौलिक तथा अप्रकाशित रचनाओं को ही प्राथमिकता दी जाती है।

सदस्यता के नियम

(१) 'विवेक-ज्योति' पत्रिका के सदस्य किसी भी माह से बनाये जाते हैं। सदस्यता-शुल्क की राशि यथासम्भव **स्पीड-पोस्ट मनिआर्डर** से भेजें या बैंक-ड्राफ्ट – **'रामकृष्ण मिशन' (रायपुर, छत्तीसगढ़)** के नाम से बनवायें। यह राशि भेजते समय एक अलग पत्र में अपना नाम, पिनकोड सहित पूरा पता और टेलीफोन नं. आदि की पूरी जानकारी भी स्पष्ट रूप से लिख भेजें।

(२) पत्रिका को निरन्तर चालू रखने हेतु अपनी सदस्यता की अवधि पूरी होने के पूर्व ही नवीनीकरण करा लें।

(३) पत्रिका न मिलने की शिकायत माह पूरा होने पर ही करें। उसके बाद अंक रहने पर ही पुनः प्रेषित किया जायेगा।

(४) अंक सुरक्षित पाने हेतु प्रति अंक ६/- रुपये अतिरिक्त खर्च कर इसे वी.पी. पोस्ट से मँगाया जा सकता है। यह राशि प्रति माह अंक लेते समय पोस्टमैन को देनी होगी, अतः इसे हमें मत भेजें।

(५) सदस्यता, एजेंसी, विज्ञापन या अन्य विषयों की जानकारी के लिये 'व्यवस्थापक, विवेक-ज्योति कार्यालय' को लिखें।

वर्ष ४५ अप्रैल २००७ अंक ४

वैराग्य-शतकम्

दुराराध्याश्चामी तुरगचलचित्ताः क्षितिभुजो
वयं च स्थूलेच्छाः सुमहति फले बद्धमनसः ।
जरा देहं मृत्युर्हरति दयितं जीवितमिदं
सखे नान्यच्छ्रेयो जगति विदुषोऽन्यत्र तपसः ।।७७।।

अन्वय – तुरग-चल-चित्ताः अमी क्षितिभुजः दुराराध्याः, वयं च स्थूल-इच्छाः सुमहति फले बद्ध-मनसः, जरा देहं मृत्युः दयितम् इदं जीवितं हरति, सखे, जगति विदुषः तपसः अन्यत्र अन्यत् श्रेयः न ।

अर्थ – घोड़ों के समान चंचल चित्तवाले इन राजाओं को सन्तुष्ट करना बड़ा कठिन है; दूसरी ओर हम लोग भी बड़ी आकांक्षाओं के साथ उनसे महान् फल की आशा लगाये हुए हैं। इधर बुढ़ापा शरीर का और मृत्यु इस प्रिय जीवन का ही नाश करने जा रहा है; अतएव हे सखे, इस जगत् में विवेकवान व्यक्ति के लिये तपस्या के अतिरिक्त अन्य कुछ भी श्रेयष्कर नहीं है ।

माने म्लायिनि खण्डिते च वसुनि व्यर्थे प्रयातेऽर्थिनि
क्षीणे बन्धुजने गते परिजने नष्टे शनैर्यौवने ।
युक्तं केवलमेतदेव सुधियां यज्जह्नुकन्या-पयः-
पूतग्रावगिरीन्द्र-कन्दरतटीकुञ्जे निवासः क्वचित् ।।७८।।

अन्वय – शनैः गते यौवने, माने म्लायिनि, वसुनि खण्डिते, अर्थिनि व्यर्थे प्रयाते, बन्धु-जने क्षीणे, परिजने नष्टे च, सुधियां केवलम् एतत्-एव युक्तं यत् जह्नु-कन्या-पयः-पूत-ग्राव-गिरीन्द्र-कन्दर-तटी-कुञ्जे क्वचित् निवासः ।

अर्थ – यौवन के क्रमशः चले जाने के फलस्वरूप – जब मान-सम्मान धूमिल हो जाता है, धन-सम्पदा नष्ट हो जाती है, भिक्षुकों को खाली-हाथ लौटा देना पड़ता है, मित्र किनारा काटने लगते हैं, सेवक अन्यत्र चले जाने हैं, तब बुद्धिमान व्यक्ति के लिये यही उचित होगा कि वह हिमालय की कन्दरा के पास गंगाजी के पूत जल से सिंचित किसी कुंज में जाकर निवास करे ।

– भर्तृहरि

कन्याकुमारी में स्वामीजी

(गुरुदेव भगवान श्रीरामकृष्ण के देहत्याग के बाद स्वामीजी एक टूटे-फूटे भवन में 'मठ' बनाकर रहने लगे। कुछ काल बाद देश का दर्शन करने की इच्छा से वर्षों तक उत्तर-पश्चिमी भारत का भ्रमण करते हुए वे कन्याकुमारी पहुँचे –

(यमन–कहरवा)

एक लक्ष्य लेकर अन्तर में, करते भ्रमण सतत भारत का ।।
कैसे जागे देश हमारा, उन्नत हो जीवन जन-गण का ।

करते हुए साधना-चिन्तन, और शास्त्र का भी अभ्यास,
दर्शन पुण्यभूमि का करते, कहीं-कहीं पर अल्प प्रवास ।
स्वामीजी पहुँचे दक्षिण में, चलते-चलते बिन-आयास,
मानो निकला हो बिछड़ा सुत,
दर्शन को निज प्रिय जननी का ।। एक. ।।

हैं विराजती देवी कन्या, अन्तरीप तट के मन्दिर में,
दर्शन करने को जा पहुँचे, उमड़ रही श्रद्धा अन्तर में ।
चरणों में हो प्रणत, प्रार्थना की, जल भर आए नयनों में
भावों में अभिभूत हो गए,
भूल गए सुध निज तन-मन का ।। एक. ।।

देखा जलधि गर्भ में उभरी, एक शिला नीरव जलहीन,
पहुँचे वहाँ तैरते जल में, बैठ हुए चिन्तन में लीन ।
सम्मुख ही थे मातृभूमि के, पग पखारते सागर तीन,
सोच रहे हैं साधन कोई,
देशवासियों की उन्नति का ।। एक. ।।

बोध हुआ जन-जन में बसकर, ईश्वर ही चलते-फिरते हैं,
क्यों उनको बिसराकर हम, बस मन्दिर में पूजा करते हैं !
चर्चा होती ब्रह्मतत्त्व की, नर-ईश्वर भूखों मरते हैं,
पाया अभिनव मार्ग वहीं पर,
सेवा नर में नारायण का ।। एक. ।।

– *विदेह*

विभिन्न वर्णों का शासन

स्वामी विवेकानन्द

अद्वैत आश्रम, मायावती द्वारा प्रकाशित State Society and Socialism नामक संकलन में प्रश्नोत्तर के रूप में स्वामीजी के विचारों का संयोजन किया गया है। प्रस्तुत है उसी पुस्तक के महत्वपूर्ण अंशों का हिन्दी रूपान्तरण। – सं.)

प्रश्न – भविष्य में आनेवाले शुद्र-शासन के विषय में स्वामीजी क्या कह गये हैं?

उत्तर – मेरी बात पर विश्वास करो, शूद्रों का उदय पहले रूस में होगा और इसके बाद चीन में। (स्वामी विवेकानन्द : पेट्रियाट-प्रॉफेट : ए स्टडी, भूपेन्दनाथ दत्त १९५४, पृ. ३३५)।

एक ऐसा समय आयेगा, जब शूद्रत्व के साथ शूद्रों का प्राधान्य होगा, अर्थात् आजकल जिस प्रकार शूद्र जाति वैश्यत्व अथवा क्षत्रियत्व प्राप्त करके अपना बल दिखा रही है, उस प्रकार नहीं, वरन् अपने शूद्रोचित धर्म-कर्म सहित वह समाज में आधिपत्य हासिल करेगी। पाश्चात्य जगत् में इसकी लालिमा भी आकाश में दीखने लगी है और इसका फलाफल विचार करके सब लोग घबराये हुए हैं। सोशलिज्म, अनार्किज्म, निहिलिज्म आदि सम्प्रदाय* इस विप्लव की आगे चलनेवाली ध्वजाएँ हैं।[८१]

अन्त में आयेगा मजदूरों का शासन। उसका लाभ होगा भौतिक सुखों का समान वितरण – और उससे हानि होगी, कदाचित् संस्कृति का निम्न स्तर पर गिर जाना। साधारण शिक्षा का बहुत प्रचार होगा, परन्तु असामान्य प्रतिभाशाली व्यक्ति कम होते जायेंगे।[८२]

प्रश्न – आदर्श शासन कौन-सा है?

उत्तर – यदि ऐसा राज्य स्थापित करना सम्भव हो, जिसमें ब्राह्मण-युग का ज्ञान, क्षत्रिय-युग की सभ्यता, वैश्य-युग का प्रचार-भाव और शूद्र-युग की समानता लायी जा सके – उनके दोषों को त्याग कर – तो वह एक आदर्श राज्य होगा। परन्तु क्या यह सम्भव है?[८३]

प्रश्न – प्राचीन भारत में क्षत्रिय-राजा ब्राह्मणों का आदेश क्यों मानते थे?

उत्तर – पुरोहित लोग राजाओं को कभी डर दिखाकर आदेश देते, तो कभी मित्र बनकर सलाहें देते और कभी चतुर नीति के जाल बिछा उन्हें फँसाते थे। इस प्रकार उन लोगों ने राजकुल को अनेक बार अपने वश में किया। राजाओं को पुरोहितों से डरने का सबसे मुख्य कारण यह था कि उनका यश और पूर्वजों की कीर्ति पुरोहितों की ही लेखनी के अधीन थी। राजा अपने जीवन में कितना ही तेजस्वी और कीर्तिमान क्यों न हो, अपनी प्रजा का माँ-बाप ही क्यों न हो, पर उसकी वह अति उज्ज्वल कीर्ति समुद्र में गिरी हुई ओस की बूँदों की तरह सदा के लिये काल-समुद्र में विलीन हो जाती थी। केवल अश्वमेध आदि बड़े-बड़े याग-यज्ञों का अनुष्ठान करनेवाले तथा बरसात के मेघों की भाँति ब्राह्मणों पर धन की झड़ी लगानेवाले राजाओं के ही नाम इतिहास के पृष्ठों में पुरोहित-प्रसाद से जगमगा रहे हैं। आज ब्राह्मण-जगत् में, देवताओं के प्रिय धर्माशोक* का नाम भर रह गया है, पर परीक्षित-जनमेजय× से आबाल-युवा-वृद्ध – सभी भलीभाँति परिचित हैं।[८४]

वैदिक काल में उसके कुछ दिनों बाद तक पुरोहित शक्ति के दबाव के कारण राज-शक्ति का विकास न हो सका था। हम लोग देख चुके हैं कि बौद्ध विप्लव के बाद किस प्रकार पुरोहित-शक्ति के विनाश के साथ ही भारत की राज-शक्ति का पूर्ण विकास हुआ। बौद्ध साम्राज्य के पतन और मुसलमान

---

* **सोशलिज्म** – इसकी उत्पत्ति १८३५ ई. में यूरोप में हुई थी। इसका प्रचार अब वहाँ के सब देशों में हो रहा है। अर्थशास्त्र पर ही इस मत की प्रधान भित्ति स्थापित है। इस मत के कई भेद हैं। इसके माननेवालों का मुख्य उद्देश्य यह है कि देश के मूलधन और भूमि का स्वामी व्यक्ति-विशेष नहीं, अपितु समाज हो। श्रमजीवी भले ही पूंजीपति न बनें, किन्तु उनका वेतन बढ़े और उनके जीवन-स्तर का मान उन्नत हो – यह सोशलिज्म का एक प्रधान उद्देश्य है।

अनार्किज्म – इस सम्प्रदाय के प्रथम प्रवर्तक बकुनिन कहे जा सकते हैं, जिनका जन्म १८१४ ई. में हुआ था। बाह्य कर्तृत्व या शासन के विरुद्ध आचरण करना इस मत का सार है। इस मत के माननेवाले कहते है कि यदि मनुष्य अपनी प्रकृति के नियमों के अनुसार चले तो राज-शासन या कानून की आवश्यकता ही नहीं है। इस मत के अनुसार गणतांत्रिक समूहों का ऐच्छिक सम्मिलन ही समाज का आदर्श है और तत्काल इस अवस्था के सर्जन के लिये यथाशक्ति चेष्टा करना प्रत्येक मनुष्य का कर्तव्य है।

निहिलिज्म – यह मत अनार्किज्म के ही समान है। कुछ साधारण अन्तर दोनों में है। इसका जन्म रूस देश में १८६२ ई. में हुआ था। वहीं इसका अधिक प्रचार है। इस मत के अनुसार तीन चीजें मिथ्या हैं – ईश्वर, शासन और विवाह।

* बौद्ध धर्म ग्रहण करने पर अशोक का दूसरा नाम।

× महाभारत में वर्णित सर्पयज्ञ जनमेजय ने ही सम्पन्न किया था।

साम्राज्य की स्थापना के बीच में राजपूतों ने राज-शक्ति को पुन: स्थापित करने की जो चेष्टा की थी, वह इसलिये असफल हुई कि इसी समय पुरोहित-शक्ति ने फिर से नया जीवन पाने का प्रयत्न किया था।[८५]

प्रश्न – बौद्ध तथा मुसलमान-क्षत्रिय कैसे प्रबल हुए?

उत्तर – बौद्ध विप्लव के साथ-साथ पुरोहित-शक्ति का ह्रास और राज-शक्ति का विकास हुआ। बौद्ध काल के पुरोहित संसार-त्यागी होते थे। मठों में वास करते थे तथा प्रपंच और झगड़ों से दूर रहा करते थे। राजाओं को अभिशाप या बाहुबल से अपने वश में रखने का उत्साह या इच्छा इन पुरोहितों की नहीं थी। यदि थी भी, तो वह पूरी नहीं हो सकती थी, क्योंकि आहुतिभोजी देवताओं की अवनति के साथ-साथ उनकी प्रतिष्ठा घट रही थी। सैकड़ों ब्रह्मा और इन्द्र, बुद्धत्व पाये हुये नर-देव के चरणों पर लोटते थे और इस बुद्धत्व में प्रत्येक मनुष्य का ही अधिकार था।

इसलिये राज-प्रभुत्व-रूपी बलवान यज्ञ के घोड़ों की रास अब पुरोहितों की सख्त मुट्ठी में नहीं रही, अब वह अश्व निज बल से स्वच्छन्द विचरण करने लगा। इस युग में शक्ति का केन्द्र सामगान और यज्ञ करनेवाले पुरोहितों में नहीं रहा, और न राजशक्ति छोटी-छोटी रियासतों पर राज्य करनेवाले भारत के बिखरे हुये क्षत्रिय राजाओं में ही रही। वे चक्रवर्ती सम्राट्, जिनका राज्य देश के एक छोर से दूसरे छोर तक विस्तृत था और जिनकी आज्ञा का विरोध करनेवाला कोई नहीं था, वे ही अब मानव शक्ति के केन्द्र बने। इस समय समाज के नेता वशिष्ठ, विश्वामित्र आदि नहीं रहे, बल्कि चन्द्रगुप्त, अशोक आदि हुए। बौद्धकाल के सार्वभौम राजाओं की तरह भारत का गौरव बढ़ानेवाले दूसरे कोई राजा भारत के सिंहासन पर नहीं बैठे। इस युग के अन्त में आधुनिक हिन्दू धर्म का और राजपूत आदि जातियों का अभ्युत्थान हुआ। इन लोगों के हाथ में भारत का राजदण्ड अपनी अखण्ड प्रतिष्ठा से गिरकर फिर टुकड़े-टुकड़े हो गया। इस समय राज-शक्ति के सहायक के रूप में पुरोहित शक्ति का पुन: अभ्युत्थान हुआ।

वैदिक काल से चला आ रहा, पुरोहित-शक्ति और राज-शक्ति के बीच का वह पुराना वैर, जो जैन-बौद्धों के विप्लव-काल में बहुत बढ़े-चढ़े आकार में प्रकट हुआ था, अब इस विप्लव के समय मिट गया। अब ये दोनों प्रबल शक्तियाँ एक-दूसरे की सहायक हो गयीं। पर अब ब्राह्मणों में न वह तेज और न क्षत्रियों में वह प्रचण्ड बल ही रह गया था। ये दोनों सम्मिलित शक्तियाँ एक-दूसरे की स्वार्थ-सिद्धि में सहायता देने, विपक्षियों का सर्वनाश करने तथा बौद्धों का नाम तक मिटाने में ही अपना बल गँवाती रहीं और कई तरह से बँटकर प्राय: नष्ट सी हो गयीं। दूसरों का खून चूसना, धन हरण करना, वैर चुकाना आदि इन लोगों का नित्य-कर्म था। ये प्राचीन राजाओं के राजसूय आदि यज्ञों की थोथी नकल किया करते थे, भाटों और चारणों आदि खुशामदियों के दल से घिरे रहते थे, और मंत्र-तंत्र के घोर शब्द-जाल में फँसे थे। इसका फल यह हुआ कि ये लोग पश्चिम से आये हुए मुसलमान कसाइयों के सहज शिकार बन गये।

वैदिक काल से ही जिस पुरोहित-शक्ति की लड़ाई राज-शक्ति के साथ चली आ रही थी, जिस शक्ति की प्रतिस्पर्धा को भगवान श्रीकृष्ण ने अपनी अमानव प्रतिभा से अपने समय में मिटा-सा दिया था, जो पुरोहित-शक्ति जैन और बौद्ध विप्लव के समय भारत के कर्मक्षेत्र से प्राय: लुप्त-सी हो गयी थी अथवा जिसने उन प्रबल प्रतिस्पर्धा की दासता स्वीकार कर किसी तरह अपने दिन काटे थे, जिस पुरोहित-शक्ति ने मिहिरकुल* आदि के भारत विजय करने पर कुछ दिन तक अपना पहला अधिकार फिर प्राप्त करने के लिये पूरा प्रयत्न किया था और इसके लिये मध्य एशिया से आयी हुई निष्ठुर बर्बर सेनाओं के आधीन होकर उनकी घृणित रीति-नीतियों को अपने देश में प्रचलित किया था। तथा साथ-ही-साथ जिस पुरोहित-शक्ति ने उन निरक्षर बर्बरों को प्रसन्न रखने के लिये ठगने के सरल उपाय मंत्र-तंत्र आदि की शरण ली थी और इस कारण अपनी विद्या, बल तथा सदाचार को बिल्कुल खोकर आर्यावर्त को कुत्सित, गन्दे, बर्बराचार का एक बड़ा दलदल बनाया। अन्धविश्वास तथा अनाचार के निश्चित फलस्वरूप जो निस्सार और अति दुर्बल हो गयी थी, वही पुरोहित-शक्ति पश्चिम से आयी हुई मुसलमान आक्रमण-रूपी आँधी के स्पर्श मात्र से चूर-चूर होकर भूमि पर गिर गयी। अब, फिर वह कभी उठेगी या नहीं, कौन जाने?

मुसलमानों के समय में इस शक्ति का पुन: सिर उठाना असम्भव था। मुहम्मद साहब स्वयं इसके पूरे विरोधी थे। वे इसे समूल नष्ट करने के लिये नियम आदि भी बना गये हैं। मुसलमानों के राज्य में राजा स्वयं प्रधान पुरोहित रहा है। वही धर्मगुरु (खलीफा) रहा है और सम्राट् होने पर प्राय: सारे मुसलमान जगत् के नेता होने की आशा रखता है। मुसलमानों के लिये यहूदी या ईसाई उतने घृणा के पात्र नहीं हैं; वे केवल अल्पविश्वासी ही हैं, पर हिन्दू तो काफिर और मूर्ति-पूजक होने से इस जीवन में बलिदान और मृत्यु के बाद चिर नरक के भागी समझे जाते हैं। इन्हीं काफिरों के धर्म-गुरुओं अर्थात् पुरोहितों को मुसलमान राजा दया करके किसी प्रकार जीवन धारण करने मात्र की आज्ञा दे सकते थे और वह भी कभी-कभी; नहीं तो जहाँ राजा की धर्मप्रियता में थोड़ी वृद्धि हुई कि काफिरों की हत्यारूपी महायज्ञ शुरू हो जाता था।

एक ओर राज-शक्ति अब विधर्मी और भिन्न आचारवाले

* हूणजातीय राजा।

प्रबल राजाओं में आयी और दूसरी ओर पुरोहित-शक्ति अब समाज-शासन के ऊँचे पद से एकदम गिर गयी। अब मनुस्मृति आदि धर्मशास्त्रों के स्थान पर कुरान की दण्डनीति आ डटी! अरबी ओर फारसी भाषाओं ने संस्कृत की जगह ले ली। संस्कृत भाषा अब विजित और घृणित हिन्दुओं के धार्मिक कृत्यों के ही काम की रही और इसीलिये पुरोहितों के हाथ में किसी तरह जीवन-यापन करने लगी। पुरोहित-शक्ति अब विवाह आदि संस्कार कराकर ही सन्तोष मानने लगी और वह भी मुसलमान राजाओं की कृपादृष्टि रहने तक ही।

पुरोहित-शक्ति के दबाव के कारण राज-शक्ति का विकास वैदिक काल में और उसके कुछ दिनों बाद तक न हो सका था। हम लोग देख चुके हैं कि बौद्ध विप्लव के बाद किस प्रकार पुरोहित-शक्ति के विनाश के साथ ही भारत की राज-शक्ति का पूर्ण विकास हुआ। बौद्ध साम्राज्य के पतन और मुसलमान साम्राज्य की स्थापना के बीच में राजपूतों ने राज-शक्ति को पुन: स्थापित करने की जो चेष्टा की थी, वह इसीलिये असफल हुई कि पुरोहित-शक्ति ने इस समय फिर नया जीवन पाने का प्रयत्न किया था।

पुरोहित-शक्ति को दबाकर ही मुसलमान राजा मौर्य, गुप्त, आन्ध्र, क्षत्रप* आदि राजाओं की गौरवश्री की छटा फिर से दिखा सके थे।

इस तरह भारत की पुरोहित-शक्ति जिसका नियंत्रण कुमारिल, शंकर, रामानुज आदि ने किया था, जिसकी रक्षा राजपूतों आदि के बाहुबल से हुई थी और जिसने बौद्धों और जैनों का संहार कर पुनर्जीवन प्राप्त करने की चेष्टा की थी, वही शक्ति मुसलमान काल में मानो सदा के लिये सो गयी। अब वैर-विरोध केवल राजाओं के बीच ही रहा। इस काल के अन्त में जब हिन्दू-शक्ति वीर मराठों या सिक्खों के हाथ में आयी और ये हिन्दू धर्म को किसी अंश में पुन: स्थापित कर सके, तब

* फारस से आये हुये आर्यावर्त और गुजरात के सम्राट्।

भी पुरोहित-शक्ति का उससे विशेष सम्बन्ध नहीं था।[८६]

प्रश्न – दूसरे देशों में क्या हुआ?

उत्तर – चीनी, सुमेरी, बेबिलोनी, मिस्त्र, कैल्डिया-वासी, आर्य, ईरानी, यहूदी और अरबी आदि जातियों में समाज की बागडोर प्रथम युग में ब्राह्मण या पुरोहित के हाथ में थी। दूसरे युग में क्षत्रियों का अर्थात् राजकुल या एकाधिकारी राजाओं का अभ्युत्थान हुआ। ...

मिस्त्र आदि प्राचीन देशों में ब्राह्मण-शक्ति थोड़े ही समय तक प्रधान शक्ति रही। उसके बाद वह राज-शक्ति के अधीन और उसकी सहकारी बनकर रहने लगी। चीन में कन्फ्यूशियस× की प्रतिभा द्वारा गढ़ी हुई राज-शक्ति ढाई हजार वर्षों से भी अधिक काल से पुरोहित शक्ति को अपनी इच्छानुसार चलाती आ रही है। गत दो सौ वर्षों से तिब्बत के सर्वग्रासी लामा लोग राजगुरु होकर भी सब प्रकार से चीनी सम्राट् के अधीन होकर दिन काट रहे हैं।

भारत में राज-शक्ति की जय और उन्नति दूसरे पुराने सभ्य देशों से बहुत दिनों बाद हुई। इसीलिये मिस्त्री, बेबीलोनी और चीनी सम्राज्यों के काफी काल बाद भारत-साम्राज्य स्थापित हुआ। एक यहूदी जाति में ही राजशक्ति अनेक प्रयत्न करने पर भी पुरोहित-शक्ति पर अपना अधिकार बिल्कुल न जमा सकी। वैश्यों ने भी उस देश में कभी प्राधान्य नहीं पाया। प्रजा ने पुरोहितों के बन्धनों से छूटने की चेष्टा की थी। परन्तु भीतर ईसाई आदि धर्म-सम्प्रदायों के संघर्ष से और बाहर बलवान रोम-साम्राज्य के दबाव से वह मृतप्राय हो गयी।[८७]

❖ (क्रमश:) ❖

सन्दर्भ-सूची –

८१. विवेकानन्द साहित्य, (सं. १९८९) खण्ड ९, पृ. २१९-२०; **८२**. वही, खण्ड ५, पृ. ३८६; **८३**. वही, खण्ड ५, पृ. ३८७; **८४**. वही, खण्ड ९, पृ. २०१-०२; **८५**. वही, खण्ड ९, पृ. २०६; **८६**. वही, खण्ड ९, पृ. २०४-०७; **८७**. वही, पृ. २०८-०९

× चीन देश के एक प्राचीन धर्म तथा नीति-संस्कारक।

निष्काम कर्म का उद्देश्य

निष्काम कर्म एक उपाय है – उद्देश्य नहीं, जीवन का उद्देश्य है ईश्वर-प्राप्ति। कर्म आदिकाण्ड है – वह उद्देश्य नहीं हो सकता। कर्म को जीवन का सर्वस्व मत समझो। ईश्वर से भक्ति के लिए प्रार्थना करो। यदि सौभाग्यवश भगवान तुम्हारे सामने प्रकट हो जाएँ, तो क्या तुम उनसे अस्पताल-दवाखाने, कुएँ-तालाब, सड़क, धर्मशालाएँ – इन्हीं सब के लिए प्रार्थना करोगे? नहीं, ये सब चीजें तभी तक सत्य प्रतीत होती हैं, जब तक भगवान के दर्शन नहीं होते। एक बार उनके दर्शन हो जाएँ तो ये सब स्वप्नवत्, अनित्य असार लगने लगते हैं। तब साधक उनसे केवल ज्ञान और भक्ति की ही प्रार्थना करता है।

– *श्रीरामकृष्ण*

ईर्ष्या की वृत्ति

स्वामी आत्मानन्द

(ब्रह्मलीन स्वामी आत्मानन्द जी ने आकाशवाणी के चिन्तन कार्यक्रम के लिए विभिन्न विषयों पर अनेक विचारोत्तेजक लेख लिखे थे, जो आकाशवाणी के विभिन्न केन्द्रों द्वारा समय-समय पर प्रसारित किये जाते रहे हैं तथा काफी लोकप्रिय हुए हैं। प्रस्तुत लेख आकाशवाणी, रायपुर से साभार गृहीत हुआ है। - सं.)

मानव-जीवन सुख और दुःख से भरा हुआ है। कोई ऐसा मनुष्य नहीं होगा, जिसके जीवन में केवल सुख-ही-सुख हो या कि दुःख-ही-दुःख। हाँ, यह बात सत्य है कि जीवन में सुख की अपेक्षा दुःख ही अधिक है। थोड़ा-सा सुख पाने के लिए हम कितना अधिक दुःख उठाते हैं, बहुधा उसकी ओर हमारा ध्यान नहीं जाता। हमारे पास जब धन आता है, तो सुख होता है, पर इस सुख की संवेदना को पाने के लिए हमें कितने कष्ट उठाने पड़े, कितना श्रम करना पड़ा, यह हम भूल जाते हैं। यह बात हर सुख की संवेदना पर लागू होती है। यदि हम तनिक गहराई से विचार करें, तो देखेंगे कि सुख की हर क्षणिक संवेदना के पीछे स्तूपाकार दुःख खड़ा है। और यह अनिवार्य है। सुख पाने के लिए, भले ही वह क्षणिक हो, हमें दुःख की प्रक्रिया से गुजरना ही होगा। इसे हम अनिवार्य दुःख कह सकते हैं, क्योंकि उसके बिना हमें सुख की अनुभूति नहीं होती। जैसे, हम स्वादिष्ट भोजन चाहते हैं। तीस मिनट के रसना के आनन्द के लिए घण्टों पकाने की कष्टप्रद प्रक्रिया से गुजरना ही होगा। हमें सामान जुटाने का श्रम करना होगा, तो घर के लोग उसे साफ कर पकाने का श्रम करेंगे। चूँकि इसके बिना हमारा रोजमर्रे का काम नहीं चलता, इसीलिए इसे 'अनिवार्य दुःख' कहकर पुकारा गया है।

दुःख का दूसरा प्रकार वह है, जो हम पर बलपूर्वक थोपा जाता है। हम उसे नहीं लाते, बल्कि वह स्वयं आकर हम पर हावी हो जाता है। जैसे, हम रास्ते से जा रहे हैं और कोई वाहन आकर हमसे टकरा गया। हमारी हड्डी टूट गयी और हम महीनों प्लास्टर में बँधे पड़े रहे। या फिर हमें किसी रोग ने धर दबोचा। दुःख के ये रूप ऐसे हैं, जिन्हें हमने नहीं बुलाया था, पर जो खुद आकर हमें पीड़ित करते हैं। इनसे भी बचना कठिन कार्य है। कोई ऐसा व्यक्ति न होगा, जो ऐसे दुःख से पीड़ित न होता हो।

पर दुःख का एक तीसरा प्रकार भी है, जो न तो अनिवार्य है और न ही हम पर बलपूर्वक थोपा जाता है, बल्कि जिसे हम स्वयं ले जाते हैं। कोई प्रतिवाद कर सकता है कि क्या व्यक्ति खुद होकर अपने लिए दुःख लायेगा? परन्तु यह सत्य है, और वह है असूयाजनित दुःख। असूया मन की वह वृत्ति है, जो दूसरों के सुख को देखकर दुःख का अनुभव करती है। इसे बोलचाल की भाषा में हम ईर्ष्या या डाह भी कहते हैं। यह असूया बड़ी विचित्र है, यह अकारण ही जलाती है। इस दुःख के लिए मात्र हम ही जिम्मेदार होते हैं। हमने अपने पड़ोसी के यहाँ रेफ्रीजिरेटर क्या देखा कि असूयावृत्ति हमारे भीतर जगकर हमें जलाने लगती है। यदि किसी को कीमती वस्त्र पहने हुए देख लूँ, तो इतने में ही भीतर की आग सुलग जाती है। यदि मेरा कोई परिचित अपने किसी प्रशंसनीय कार्य के कारण जनप्रिय और यशोधन हो जाता है, तो वह मुझे सुहाता नहीं। यदि तपस्या, संयम और विद्वत्ता के लिए गुरु अपने किसी शिष्य के प्रति स्नेह दर्शाते हैं, तो दूसरे शिष्य असूया की अग्नि में जलने लगते हैं। यदि किसी को लाटरी मिल जाती है, तो मेरा हृदय कचोटने लगता है। यह डाह, यह ईर्ष्या, यह असूया हमारी अपनी जगायी हुई है। दुःख के प्रथमोक्त दोनों प्रकार तो आकर चले जाते हैं, पर यह असूया हमें सतत जलाती रहती है। इससे बचने का एक ही उपाय है - और वह है - आत्मवत् सर्वभूतेषु की वृत्ति को चेष्टापूर्वक अपने भीतर जगाने का अभ्यास, जो यह कहती है कि सबको अपने समान जानो, उनके दुःख को अपना दुःख समझो और उनके सुख को अपना सुख। ❑❑❑

श्रीराम-वाल्मीकि-संवाद (१२/२)

पं. रामकिंकर उपाध्याय

(आश्रम द्वारा १९९६-९७ में आयोजित विवेकानन्द-जयन्ती-समारोहों के समय पण्डितजी ने उपरोक्त विषय पर जो प्रवचन दिये थे, यह उसी का अनुलेख है। टेप से इसे लिपिबद्ध करने का श्रमसाध्य कार्य श्रीराम संगीत महाविद्यालय, रायपुर के सेवानिवृत्त प्राध्यापक श्री राजेन्द्र तिवारी ने किया है। – सं.)

महाराज दशरथ और कौशल्याजी के चरित्र में जरा तुलना करके देखें। वैसे तो महाराज दशरथ का चरित्र बड़ा उदात्त है। उनमें अनेक परम उत्कृष्ट गुण हैं, परन्तु माँ कौशल्या उनकी तुलना में हर दृष्टि से आगे दिखाई देंगी। उनके जीवन में जो विवेक है, सांसारिक आसक्ति का जो अभाव है, जो समत्व है, दशरथजी के जीवन में वैसा नहीं है। दशरथजी कैकेयी से अत्यधिक अनुराग रखते हैं और कैकेयी के द्वारा विपरीत कार्य होने पर उनके मन में घृणा उत्पन्न हो जाता है और वे कैकेयी का त्याग कर देते हैं। इस प्रकार दशरथजी भगवान राम की लीला का आनन्द लेते हैं और इस आनन्द में विवेक का भूल जाना सहायक होता है। यदि आप नाटक देखने जायँ, तो आप जानते ही हैं कि नाटक सब कल्पना मात्र है, लेकिन वहाँ जो व्यक्ति जितनी देर के लिये यह भूल जाता है, वह उतना ही डूब जाता है। महाराज दशरथ के चरित्र के इन प्रसंगों में ममत्व, राग आदि विपरीत वृत्तियाँ दिखाई देती हैं, जो सांसारिक सन्दर्भों से जुड़ी हुई हैं। परन्तु माँ कौशल्या के जीवन में आदि से अन्त तक ऐसा नहीं दिखता। महारानी कैकेयी यदि श्रीराम को बहुत चाहती हैं, तो भी कौशल्या जी प्रसन्न हैं और यदि महारानी कैकेयी ने उनके पुत्र को वन भेज दिया, तो उनके मन में कोई दुर्भाव नहीं आया। जब प्रभु रामभद्र ने पूछा – मैं वन जाने की आज्ञा लेने आया हूँ, तो माँ ने यही कहा कि यदि पिता ने तुम्हें वन जाने को कहा है, तो मैं कहूँगी कि मत जाओ, क्योंकि पिता की अपेक्षा माँ का स्थान अधिक ऊँचा है।

जौं केवल पितु आयसु ताता।
तौ जनि जाहु जानि बड़ माता।।

परन्तु तुम्हारे पिता के साथ यदि तुम्हारी माँ कैकेयी ने भी तुम्हें वन जाने को कहा हो, तो अवश्य जाओ, क्योंकि तुम्हारे लिये उनकी आज्ञा का पालन करना परम हितकर है –

जौं पितु मातु कहेउ बन जाना
तौ कानन सत अवध समाना।। २/५६/१-२

यदि वे अपने पुत्र को अपना पुत्र मानकर ममताग्रस्त होतीं, तो महारानी कैकेयी के प्रति उनके मन में द्वेष तथा क्रोध उत्पन्न होता, पर उनकी जो विवेकमयी स्थिति है, वह उनके चरित्र का एक अद्‌भुत पक्ष है। और महाराज दशरथ ने भगवान से भले ही विवेक न लेना चाहा हो, पर अन्त में विवेक तो उन्हें भी लेना ही पड़ा। विवेक के बिना उनके जीवन में परम कृतकृत्यता का अनुभव नहीं हुआ।

भगवान मानो कौशल्या अम्बा को यह बताना चाहते हैं कि आनन्द लेने के लिये तो आप ब्रह्म को एक देश, एक काल, एक सीमा में देखेंगे; पर जो देश-काल तथा व्यक्तित्व की सीमा से घिरा हुआ है, उसमें कभी अच्छाई दिखेगी, तो कभी बुराई। आज आप जिस व्यक्ति में सद्‌गुण देखते हैं, कल उसी में दुर्गुण दिखाई देता है। यदि हम कहें कि ईश्वर में यह गुण है, श्रीराम में यह गुण है या श्रीकृष्ण में यह गुण है और यदि वे व्यक्ति हैं और वे भी देश-काल तथा व्यक्तित्व की सीमा से घिरे हुये हैं, तो गुण के साथ ही उनमें दोष भी होंगे। ऐसी स्थिति में वे आराध्य नहीं होंगे, हम उनके चरित्र में भी गुण और दोष का विभाजन करेंगे और कहेंगे कि यह अच्छी बात है और यह बुरी बात है। आजकल तो अच्छी बातों की अपेक्षा बुरी बातें ढूँढ़ने का चलन हो गया है।

श्रीराम को यह लगा – माँ को यह बोध होना चाहिये कि मन और नेत्र का आनन्द ही सब कुछ नहीं है। असीम का ससीम रूप में आनन्द लेना एक बात है, परन्तु उस असीम में समीम तथा असीम – दोनों को देख पाना आवश्यक है। प्रभु बड़े कौतुकी हैं, इसीलिये उन्होंने तीन रूप दिखाये। एक बालक वह है जो पालने पर सोया है। दूसरा बालक वह है जो भोग लगा रहा है और तीसरा वह जो विराट् ब्रह्म सामने दिखाई दे रहा है। प्रभु का अभिप्राय यह है कि – तुमने जब मुझे एक जगह सोते और एक जगह भोग लगाते देखा, तो मैं हूँ तो एक ही, पर तुम्हारी भावना तथा प्रेम से वशीभूत होकर आया हूँ। तुमने सुलाया, तो मैं सो गया और तुमने भगवान को भोग लगाया, तो मैं ही भगवान हूँ। मेरे लिये सोना या भोजन करना, कोई आवश्यकता नहीं है, तुम्हारे इस स्नेह की आवश्यकता नहीं है। तुम उसका अनुभव करो। और प्रभु ने माँ को उस विराट् स्वरूप का दर्शन कराया, जहाँ रोम-रोम में करोड़ों ब्रह्माण्ड हैं, सूर्य हैं, चन्द्रमा हैं, अगणित नक्षत्र हैं। माया भगवान के पास हाथ जोड़े खड़ी है, भक्ति आनन्दमय भाव में खड़ी है। माँ ने लीला के आनन्द के साथ ही सत्य के, ब्रह्म के अखण्ड स्वरूप का साक्षात्कार किया।

इस साक्षात्कार के बाद कौशल्या जी ने भगवान से तत्काल यही निवेदन किया, विनती करते हुए कहा – हे प्रभो, अब मैं सचमुच कभी इस माया, इस भ्रम में न पड़ूँ –

अब जनि कबहूँ ब्यापै प्रभु मोहि माया तोरि ।। १/२०२

आपकी लीलाएँ तो ऐसी अनोखी हैं कि देखकर व्यक्ति भ्रम में पड़ जाता है। प्रभु ने मानो माँ से कहा – अब हमारे तुम्हारे बीच में एक समझौता हो जाय। – क्या? तुमने कहा कि माया न व्यापे, तो मैं कहता हूँ कि माया तो आयेगी, पर व्यापेगी नहीं। दोनों में अन्तर है। इसके साथ ही कहा – मेरी भी एक बात सुन लो। – क्या? – आप किसी को बताना-वताना नहीं कि इसको मैंने ऐसा देखा है –

यह जनि कतहुँ कहसि सुनु माई ।। १/२०२/८

प्रभु को लगता है कि व्यक्ति जिस कक्षा का है, उसके लिये उसी कक्षा का आनन्द लेना उचित रहेगा। अन्यथा कहीं ऐसा न हो कि वह उस आनन्द से भी वंचित हो जाय और स्वरूप का भी ज्ञान न हो, इसीलिये कह देते हैं कि किसी को बताना मत। इसका अभिप्राय यह है कि भगवान में जो गुण दिखाई देंगे, जो लीलाएँ दिखाई देंगी, उन गुणों तथा लीलाओं के पीछे जो अगुण है, जो असीम है, जो अनाम है, जो अरूप है, उसके तत्त्व को जानकर ही व्यक्ति अपने जीवन में पूर्णता का अनुभव कर सकता है।

भगवान श्रीकृष्ण की लीलाओं का रंग बदला हुआ है। उनके युग के लोग वैसे नहीं थे, जैसे त्रेतायुग में श्रीराम के साथ आये हुए उनके पार्षद थे। भगवान राम के साथ जो पार्षद आये थे – भरतजी, लक्ष्मणजी, हनुमानजी तथा अन्य श्रेष्ठ भक्त, वे कितने महान् हैं, कितने ऊँचे हैं ! पर भगवान कृष्ण की लीला में? वहाँ पर मिश्रित युग है। त्रेता में रावण लंका में है, निशाचर है, परन्तु यहाँ भगवान कृष्ण जिस कंस का वध करते हैं, वह उनका मामा है। मानो राम और रावण एक ही परिवार के हों। श्रीकृष्ण जिस परिवार में जन्म लेते हैं, उसी परिवार में वह व्यक्ति – उनका मामा है, जिसका उन्हें वध करना है। कौरव और पाण्डव एक ही परिवार के हैं। श्रीकृष्ण पाण्डवों के पक्ष में है और उन्हें कौरवों का नाश करना है। मानो वहाँ भी राम-रावण एक ही परिवार के भाई-भाई हों। महाभारत एक ही परिवार का युद्ध दिखाई देता है। वह द्वापर युग मानो मिश्रित वासना का युग है, जिसमें दोष और गुण मिलकर भिन्न-भिन्न रूपों में दिखाई देते हैं और त्रेता युग में गुण और दोष अलग-अलग दिखाई देते हैं।

उसका एक स्वतंत्र विश्लेषण है, पर उसका मूल तत्त्व यह हुआ कि भगवान जब किसी युग में आते हैं, तो उस युग के जो व्यक्ति होते हैं, उनकी योग्यता और उनके लिये जो कल्याणकारी रूप होता है, उसी रूप में वे स्वयं को प्रस्तुत करते हैं। वे ही श्रीराम हैं और वे ही श्रीकृष्ण हैं, पर भगवान जब श्रीकृष्ण के रूप में आते हैं; तब उनकी लीला – उनके द्वारा मटकी फोड़ देना, उनके द्वारा चीर-हरण करना, उनके द्वारा मिट्टी खाना – मानो भगवान यही सब जानते हैं।

परन्तु त्रेता युग में मटकी फोड़ने की जरूरत नहीं थी, क्योंकि वहाँ सब लोग अपनी मटकी उनकी सेवा में रखने को प्रस्तुत थे। अब अगर मटकी से कोई बहुत ममता कर ले, तो हम उसे तोड़ ही देंगे। यह युग-युग की भिन्नता है। श्रीकृष्ण की उस लीला में उन्हें मिट्टी खाना बहुत अच्छा लगता है। बहुधा बच्चों को मिट्टी बहुत अच्छी लगती है, खा लेते हैं। माँ सावधान रहती हैं कि मेरा बच्चा मिट्टी न खा सके। यशोदा मैया को भी चिन्ता रहती है। परन्तु कृष्ण तो अपने स्वभाव से बाध्य हैं। वे मिट्टी खाते हुए दिखाई पड़े। और उस दिन बालकों में आपस में कुछ झगड़ा हुआ था। श्रीराम कभी झगड़ते नहीं थे, पर श्रीकृष्ण झगड़ा भी कर लेते थे। बच्चों से झगड़ा हो गया, तो बच्चे नाराज थे। मुँह में मिट्टी डालते देखा, तो एक बच्चे ने जाकर माँ से कह दिया – "कृष्ण ने मिट्टी खाई है।" सोचा कि माँ अच्छी खबर लेगी। माँ ने बुलवाया, हाथ में छड़ी थी, पूछा – "तूने मिट्टी खाई?" – "नहीं माँ, मैंने मिट्टी नहीं खाई।"

नाऽहं भक्षितवान् अम्ब सर्वे मिथ्याभिसंशिनः ।
यदि सत्यगिरस् तर्हि समक्षं पश्य मे मुखम् ।।

(श्रीमद्-भागवतम्, १०/८/३५)

इतना बड़ा झूठ? सब बच्चे बोले कि हमने मिट्टी खाते देखा, परन्तु श्रीकृष्ण ने बिना संकोच के कह दिया – "सब झूठ है। – "अच्छा, तो तुम महा-सत्यवादी हो। बाकी सब झूठे हैं?" तब सहसा माँ ने कहा – "केवल ये बच्चे ही नहीं, तुम्हारा यह बड़ा भाई बलराम भी कह रहा है।" अब घबरा गये। सबको झूठा बना दिया। पर बलरामजी को भी झूठा कह दें, यह साहस नहीं हुआ। माँ ने सोचा – "अब तो मानेगा कि खाया है?" उन्होंने कहा – "मैं क्या कहूँ?" यह एक संकेत है। एक ओर तो दो आँखों से देखनेवाले बालक हैं और दूसरी ओर शेषावतार बलरामजी हैं। कहते हैं कि शेष के दो हजार नेत्र हैं। दो हजार नेत्रवाला भी कहता है कि मैंने खाते देखा और दो नेत्रवाले भी कहते हैं कि खाते देखा। पर श्रीकृष्ण यही कहते हैं – "मैंने तो नहीं खाया।" माँ बोली – "कैसे मानूँ कि तूने नहीं खाया, जब इतने लोग कह रहे हैं।" तब कृष्ण ने कहा – "इसका एक ही उपाय है कि मैं मुँह खोलता हूँ और यदि मैंने मिट्टी खाई है, तो वह मुँह में लगी होगी, आप स्वयं देख लेना; और नहीं खाई होगी, तो मिट्टी मुँह में नहीं लगी होगी।" माँ बोली – "मैं तेरी सारी चालाकी जानती हूँ। तू सोचता होगा कि मैं इतने दावे से कहूँगा, तो माँ ऐसे ही विश्वास कर लेगी कि झूठ बोल रहा होता, तो प्रत्यक्ष देखने की बात न कहता। पर मेरे साथ तेरी

चालाकी नहीं चलेगी, खोलो मुँह।''

कृष्ण ने जब माँ के सम्मुख मुख खोला, तो जैसा विराट् रूप कौशल्या अम्बा के सामने आया था, वैसे ही विराट् रूप का दर्शन यशोदा मैया को भी हुआ। हमारी आँखों के सामने जो दृश्य है, वह दृश्य अपना नहीं होता, दृष्टि अपनी होती है। व्यक्ति यदि अपनी दृष्टि से देखकर ईश्वर को समझना चाहे, तो भ्रम में पड़ेगा। ''ये जो दो हजार आँखवाले या दो आँखवाले कह रहे हैं, इन्हें यह पता नहीं कि **वस्तुतः मैं इन सभी दृष्टियों से परे हूँ और मुझे देखने के लिये इन दृष्टियों के ऊपर उठना होगा**'' – ब्रह्माण्ड दिखाकर भगवान यही बताना चाहते थे और इसीलिये मुँह में मिट्टी नहीं, ब्रह्माण्ड दिखाई पड़ा। – ''ये लोग कहते हैं कि मैंने मिट्टी खाई। मिट्टी उठाई और मुँह में डाल लिया, पर तुम तो देख रही हो कि जब सारा ब्रह्माण्ड ही मेरे मुँह में हो, तो मैं कहाँ से क्या खाऊँगा। खाई तो जाती है बाहर की वस्तु और मुझसे बाहर, मुझसे भिन्न जब कुछ है ही नहीं, तो मैं क्या खाऊँगा !''

भगवान कृष्ण भी माँ को यही आनन्द देना चाहते हैं कि माँ यह समझ ले कि बाल-लीला की मेरी जो चेष्टाएँ हैं, इनके पीछे परम सत्य दूसरा है। जब वे कहते हैं कि सब झूठे हैं, तो उनका अभिप्राय है कि **जीव का सत्य और मेरा सत्य अलग-अलग है।** जीव अपनी दृष्टि को प्रमाणिक मान कर सत्य घोषित करता है और मैं अपनी दृष्टि से। मैं भोक्ता नहीं हूँ और मिट्टी खाने का अर्थ है भोक्ता। भगवान बोले – ''मैं किस वस्तु का भोग करूँगा? भोक्ता वह होता है जिसमें भूख होती है, भोक्ता वह होता है जिसमें अभाव होता है, मैं तो परिपूर्ण ब्रह्म हूँ।'' भगवान मानो यही दिखाना चाहते थे। वह बात और है कि यशोदा मैया कौशल्या अम्बा जैसी नहीं निकलीं, उनके वात्सल्य का नशा थोड़ा अधिक गहरा था। उन्होंने इस विराट्-रूप को प्रामाणिक नहीं माना। उन्हें लगने लगा कि ऐसा भला कैसे हो सकता है ! जरूर कोई भूत-प्रेत इसके मुँह में पैठ गया है, वही दिखला रहा होगा।

उनकी लीलाएँ जरा अटपटी थीं। एक बात आप बड़ी विचित्र पायेंगे – श्रीराम के साथ 'भगवान' शब्द उतनी बार नहीं मिलेगा। वाल्मीकि रामायण में बहुत कम बार मिलेगा; राम-चरित-मानस में काफी मिलेगा, पर उतना नहीं। परन्तु वेदव्यास ने श्रीकृष्ण के लिये बारम्बार 'भगवान' शब्द का प्रयोग किया है। वे जब भी किसी बात का वर्णन करते हैं, जैसा कि गीता में, तो अन्य नाम न देकर कहेंगे – 'श्रीभगवान् उवाच' – भगवान बोले। और रास-मण्डल में भी यदि रास करने की इच्छा होगी, वंशी बजाने की इच्छा होगी, तो वेद-व्यास यही कहेंगे – ''भगवान ने जब शारदीय पूर्णिमा की रात्रि को देखा तो इन्हें इच्छा हुई कि मैं दिव्य रास का स्वरूप उपस्थित करूँ'' –

भगवानपि ता रात्रीः शरदोत्फुल्ल-मल्लिकाः ।
वीक्ष्य रन्तुं मनश्चक्रे योगमायामुपाश्रितः ।।

(श्रीमद्भागवतम्, १०/२९/१)

अभिप्राय यह है कि वस्तुतः दोनों लीलाओं में भगवान का स्वरूप है। यहाँ श्रीकृष्ण के साथ 'भगवान' जोड़ना इसलिये आवश्यक है कि श्रीराम की बाल-लीला को पढ़कर यदि 'भगवान' शब्द ध्यान में न भी आये, तो आप के ऊपर कोई अनुचित प्रभाव नहीं पड़ेगा। परन्तु श्रीकृष्ण के सन्दर्भ में यदि आपने 'भगवान' शब्द को भुला दिया, तो आप कभी श्रीकृष्ण को समझ ही नहीं सकेंगे। इसलिये कि भगवान राम की लीला में किसी चोरी या किसी के चीर-हरण का वर्णन नहीं है। परन्तु श्रीकृष्ण की लीलाओं को पढ़-सुनकर व्यक्ति मानो भ्रमित हो जाता है, उसे सन्देह हो जाता है। भगवान वेदव्यास ने भी जब रासलीला का प्रसंग सुना, तो शुकदेव से यही कहा कि भगवान द्वारा इस प्रकार का कार्य कैसे सम्पन्न हुआ? श्रीराम के जीवन में ऐसी घटनाएँ कम हैं, इसीलिये 'भगवान' शब्द बार-बार नहीं दुहराया जाता।

यशोदा या नन्दबाबा जब अन्त में भगवान को भगवान के रूप में जानकर ही उनके वियोग का अनुभव करते हैं और उनकी प्रीति में व्याकुल भी होते हैं, तो इसमें उनकी स्नेह-ममता का दर्शन तो होता है, परन्तु नन्द और यशोदा जिन्हें अपना पुत्र मान बैठे थे, वे ही भगवान बाद में वसुदेव तथा देवकी के पुत्र के रूप में प्रसिद्ध हो गये, अतः सत्य तो यह है कि वे जगत्पिता हैं, सबके स्वामी हैं और जिसने जितने दिनों के लिये, जिस रूप में आनन्द पाना चाहा, उन्होंने उतने दिनों के लिये उस आनन्द को प्रगट कर दिया। प्रगट करने के बाद, वे अपनी लीला का विस्तार करते हैं और लीला को समेट भी लेते हैं। यही भगवान की लीला का स्वरूप है। इसलिये संसार के व्यक्ति में जो गुण दिखाई देता है, वह तात्कालिक है – आज है, कल नहीं रहेगा। उसी गुण में राग होता है और संसार में जिनमें दोष दिखाई देता है, यह आवश्यक नहीं कि वह दोष सदा बना रहे। इसलिये विनय-पत्रिका में गोस्वामीजी भगवान से प्रार्थना करते हैं – हे प्रभो, मुझमें वह (सन्त जैसी) 'रहनी' नहीं हैं, कब आपकी ऐसी कृपा होगी कि मुझमें वह 'रहनी' आयेगी ! –

कबहुक हौं यहि रहनि रहौंगो ।
श्रीरघुनाथ कृपालु कृपा ते
सन्त सुभाव गहौंगो ।। (विनय., १७२)

भक्तों की रहनी कैसी होनी चाहिये? सतरूपाजी ने इस रहनी की माँग की थी –

सोइ सुख सोइ गति सोइ
भगति सोइ निज चरन स्नेहु ।
सोइ बिबेक सोइ रहनि, ... ।। १/१५०

बड़े महत्त्व का सूत्र है। मनुष्य को अपने आप में गुण लाने का प्रयत्न करना भी नहीं चाहिये। क्योंकि उसके प्रयत्न से जो गुण आयेंगे, वे ससीम होंगे। पर व्यक्ति यदि ससीम गुणों को लाने के स्थान पर भगवान से प्रार्थना करे कि आप ही मेरे हृदय में आ जाइये, मेरे जीवन में आ जाइये, तो क्या होगा? भगवान जब आयेंगे, तो भगवान जहाँ होंगे, उनके गुण भी तो वहीं होंगे – अगुण भी होंगे और सगुण भी होंगे।

ऐसे भक्त के जीवन मे जो गुण होंगे, वे उसके अपने नहीं होंगे, वे गुण भगवान के होंगे। इसीलिये जब गोस्वामीजी से पूछा गया कि हनुमानजी में कितने गुण हैं, तो कुछ गुण तो उन्होंने गिनाये – बड़े बलवान हैं, सोने जैसा दमकता हुआ विशाल उनका शरीर है, ज्ञानियों में अग्रगण्य हैं। साथ ही उन्होंने यह भी स्पष्ट कह दिया – सभी गुणों के आगार हैं –

अतुलित बलधामं हेमशैलाभदेहं। ...
ज्ञानिनामग्रगण्यं ... सकलगुणनिधानम्।। ५/३

हनुमान जी ने क्या अभ्यास के द्वारा इन गुणों को लाने की चेष्टा की थी? नहीं, वस्तुत: वे गुण उनमें इसलिये हैं कि उनके हृदय में भगवान निवास करते हैं –

प्रनवउँ पवन कुमार खल वन पावक ग्यान घन।
जासु हृदय आगार बसहिं राम सर चाप धर।। १/१७

हनुमानजी के जीवन में गुण हैं, परन्तु वे कभी मानते ही नहीं कि ये गुण मेरे हैं। प्रभु हृदय में निवास करते हैं और ये सारे गुण प्रभु के ही हैं। व्यक्ति अलग-अलग गुणों को अपने जीवन में लाने का प्रयास करता है, परन्तु एक-दो गुण आना ही बड़ा कठिन है, तो सारे गुण कहाँ से आवेंगे? और ज्यों-ज्यों गुण बढ़ते जायेंगे, अभिमान भी बढ़ता जायेगा। लेकिन व्यक्ति जब यह समझ लेता है कि वस्तुत: प्रभु ही गुणों के साक्षात् विग्रह हैं, तो उसे लगता है कि यदि मेरे जीवन में भी कोई विशेषता आयेगी, तो मेरी साधना से नहीं आयेगी, मेरे अपने प्रयत्न से नहीं आयेगी। गोस्वामीजी के जीवन का मूल पक्ष दैन्य है, दीनता है। मानस के अन्त में भी है –

मो सम दीन न दीन हित तुम्ह समान रघुबीर।
अस बिचारि रघुबंसमनि हरहु बिषम भवभीर।। ७/१३०

अत: गोस्वामीजी भगवान से जो शब्द कहते हैं – सन्त जैसी रहनी। सन्त जैसे रहते हैं, कोई वैसे रहने की चेष्टा करे, तो चेष्टा से जो गुण आयेगा, उसके साथ यह अभिमान भी आयेगा कि मैं इतना गुणी हूँ, इतना बड़ा साधक हूँ, इतना बड़ा त्यागी हूँ, मुझमें ये विशेषता है, आदि आदि। परन्तु गोस्वामीजी कहते हैं – प्रभो, यदि यह रहनी मेरे जीवन में आयेगी, तो मेरे प्रयत्न से नहीं आयेगी। – तो कैसे आयेगी? – आप ही की कृपा से आयेगी –

श्रीरघुनाथ कृपालु कृपा तें
सन्त सुभाव गहौंगो।। (विनय., १७२)

इसमें एक बड़ा महत्त्वपूर्ण सूत्र है। ईश्वर में अनन्त गुण हैं और गुणी लोगों में भी गुण हैं, परन्तु गुणी लोगों में एक कमी होती है और वह यह कि उनमें भगवान-जैसा स्वभाव नहीं होता। संसार में जो लोग गुणी होते हैं, उनका ऐसा स्वभाव होता है कि जिन लोगों में कमी होती है, अवगुण होते हैं, उन्हें वे बड़ी हीन और तुच्छ दृष्टि से देखते हैं – अरे, यह व्यक्ति क्या है, किस काम का है? उसके जीवन में कितने दोष हैं! कितनी कमियाँ हैं। पर भगवान की विशेषता क्या है? वे जितने गुणमय हैं, उतने ही कृपालु भी हैं। प्रभु किसी के गुण देखकर कृपा नहीं करते, अपितु इसलिये करते हैं कि कृपा करना उनका स्वभाव ही है। स्वभाव के नाते, बिना गुण-दोष को देखे ही वे कृपा करते रहते हैं।

आप कहेंगे – तब तो साधन-भजन निरर्थक है। क्यों करें? परन्तु बात यह है कि **साधना न करनेवाले को भगवान की वह कृपा दृष्टिगोचर नहीं होती।** और साधना के बाद व्यक्ति जब अभिमान से मुक्त हो जाय, तो वह बहुत ऊपर उठ सकता है – सम्भव है वह स्वर्गलोक या ब्रह्मलोक में चला जाय। साधना कोई साधारण वस्तु नहीं है।

भगवान राम और सीताजी सिंहासन पर विराजमान हुए, तब वेदों ने भगवान की स्तुति करते हुये कहा – प्रभो, दो तरह के ज्ञानी होते हैं – एक तरह के ज्ञानी तो अमानी हो जाते हैं। ज्ञानी कौन है? भगवान की व्याख्या है – जिसमें मान का लेश नहीं है, सर्वत्र ब्रह्म का दर्शन होता है –

ग्यान मान जहँ एकउ नाहीं।
देख ब्रह्म समान सब माहीं।। ३/१५/७

एक ज्ञानी वह है। और दूसरा ज्ञानी वह है, जिसने पढ़कर या सुनकर साधना के द्वारा अन्त:करण शुद्ध होने के बाद मानो अनुभव किया – वह ब्रह्म मैं ही हूँ –

सोहमस्मि इति बृत्ति अखण्डा।। ७/११८/१

परन्तु इसके बाद उसे अभिमान हो गया। और अभिमान होने पर? वेद कहते हैं – हे हरि, जो लोग ज्ञान के मिथ्या अभिमान में विशेष रूप से मतवाले होकर आपकी भक्ति का आदर नहीं करते, हमने देखा है कि वे देवदुर्लभ पद को पाकर भी उससे पतित हो जाते हैं –

जे ग्यान मान बिमत्त तव भव
हरनि भक्ति न आदरी।
ते पाइ सुर दुर्लभ पदादपि
परत हम देखत हरी।। ७/१३/३

ज्ञान होने पर भक्ति की जरूरत है या नहीं? बहुत-से ज्ञानी कहते हैं – ज्ञान होने पर भक्ति की जरूरत नहीं है। परन्तु दृष्टान्त में देखें, तो शम (मनोनिग्रह), यम (अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य, असंग्रह) तथा नियम (शुचिता,

सन्तोष, तप, स्वाध्याय, ईश्वर-प्रणिधान) उसके फूल हैं और ज्ञान उसका फल है –

सम जम नियम फूल, फल ग्याना ।। १/३७/१४

परन्तु फल तो वृक्ष पर ही आयेगा न ! वृक्ष यदि अपने मूल से जुड़ा हुआ हो, तभी उसमें फल का विकास होगा। वृक्ष जड़ से उखड़ गया, अब उसमें फल कहाँ से आयेगा? भक्ति का अर्थ है मूल से अपने को जोड़े रहना। यह जो कुछ है, सब प्रभु का ही है, प्रभु की कृपा से है। पर जो लोग इसे अपनी साधना का परिणाम मानकर अभिमानी हो जाते हैं, उनका क्या होता है? वेद कहते हैं – वे लोग बहुत ऊँचे पहुँचकर भी नीचे गिर जाते हैं। ठीक भी तो है, आप ऊपर उड़िये, हवाई जहाज में उड़ते हैं, पर हवाई जहाज गिरते भी तो हैं। व्यक्ति यदि निरालम्ब भाव से आकाश में उड़ने लगे, तो उड़ सकता है, पर गिर भी सकता है। लेकिन यदि कोई बालक आकाश में उड़ने की जगह पिता के कन्धे पर या गोद में बैठ जाय, तो उसको चिन्ता करने की क्या जरूरत ! प्रभु से मिलन होने पर हनुमानजी ने उनसे निवेदन किया – प्रभो, पर्वत पर बन्दरों के राजा रहते हैं, आप वहाँ चलिये, उनसे मित्रता कीजिये। भगवान बोले – आप मुझसे चलने को कह रहे हैं, तो उनकी विशेषताएँ भी बताइये। हनुमानजी ने कहा – मैं तो एक ही वाक्य कह सकता हूँ कि वे दीन हैं –

नाथ सैल पर कपिपति रहई ।
सो सुग्रीव दास तव अहई ।।
तेहि सन नाथ मयत्री कीजे ।
दीन जानि तेहि अभय करीजे ।। ४/४/२-३

वे दीन हैं और आप दीनबन्धु हैं। दीनबन्धु को दीन की जरूरत है, इसलिये चलिये। प्रभु ने जब यह प्रस्ताव स्वीकार कर लिया, तो हनुमानजी वहीं रुक नहीं गये। उन्होंने प्रभु और लक्ष्मणजी – दोनों से प्रार्थना की कि आप दोनों मेरे पीठ पर बैठ जाइये। प्रभु बड़े प्रसन्न हुए, हँसकर लक्ष्मणजी की ओर देखा और बोले – तुमने बहुत दिनों तक ब्रह्माण्ड का बोझ उठाया, मुझे भी उठाया; चलो, हम दोनों का भार उठाने का बल आ गया, अब चिन्ता की कोई जरूरत नहीं है।

प्रभु और लक्ष्मण – दोनों पीठ पर बैठ गये। प्रभु ने कहा – हनुमान, तुम्हारे पीठ पर बैठकर मैं निश्चिन्त हो गया। हनुमानजी ने धीरे से चरणों को पकड़कर कहा – प्रभो, आप कहते तो हैं, पर मैंने आपकी चिन्ता को दूर नहीं किया, बल्कि बढ़ा दिया है। – क्या? बोले – ले जा रहा हूँ पर्वत पर। पर्वत पर ऊँचाई की बात तो है, पर गिरने का भी डर है। व्यक्ति सावधान होकर चलता है कि कहीं ऊपर से नीचे न गिर पड़े। लेकिन यदि ऊपर चढ़नेवाले के पीठ पर कोई बैठा हो तो उसको दोहरी चिन्ता होती है कि कहीं यह गिर न जाये और यदि यह गिरेगा तो चोट इसे ही नहीं, मुझे भी लगेगी। तो मैंने इसीलिये आप दोनों को पीठ पर बिठाया कि हनुमान तो गिर सकता है, परन्तु आपको यह चिन्ता रहेगी कि हनुमान गिरने न पाये, तो मैं सुरक्षित रहूँगा, फिर मैं नहीं गिरूँगा। मैं आपको क्या उठाऊँगा, मैंने तो अपनी चिन्ता का भार भी आप पर सौंप दिया है। इसलिये भक्त अपना भार भगवान पर डाल देता है।

तो गोस्वामीजी कहते हैं कि अपनी कृपा से मेरा सन्त-स्वभाव कर दीजिये। और तब कहा – जो मिल जाय, उसी में सन्तुष्ट रहूँ, कभी किसी से कुछ पाने की इच्छा मेरे मन में जाग्रत न हो; दूसरों की कठोर वाणी सुनकर मुझे कभी क्रोध न आये; न तो मैं दूसरों के गुण देखूँ, न दूसरों के दोष देखूँ, एकमात्र आपके ही दिव्य गुणों का चिन्तन करता रहूँ –

जथा-लाभ-संतोष सदा,
काहू सों कछु न चहौंगो ।
परुष बचन अति दुसह श्रवन
सुनि तेहि पावक न दहौंगो ।।
बिगत मान, सम सीतल मन
पर-गुन नहिं दोष कहौंगो ।। (विनय. १७२)

इस तरह जब आप कृपा करेंगे, तो उस कृपा के माध्यम से यह तुलसीदास सन्त-स्वभाव, सन्त के गुण प्राप्त करेगा।

सन्त के गुण सन्त के नहीं हैं, वे भगवान के ही गुण हैं। इसलिये जाननेवाले जानते हैं कि संसार में व्यक्ति अपूर्ण है, व्यक्ति के गुण अपूर्ण हैं, केवल भगवान ही पूर्ण हैं। उनके गुणों में ही समग्रता है, इसलिये कवि कहता है कि अन्य पक्षी तो अन्य वस्तुएँ खा लेते हैं, पर हंस मोती को छोड़कर दूसरा कुछ नहीं चुगता। इसी प्रकार भक्त सोचता है कि भगवान के गुणों के मोती को छोड़कर अन्य कोई भी प्रयास मानो बगुले की भाँति मछली खाने की चेष्टा है। बगुला बड़े सबेरे उठता है, एक पैर पर नदी में खड़ा हो जाता है, बड़ा तपस्वी है, इतने सबेरे उसे ठण्ड नहीं लगती। पर ज्योंही मछली दिखी, चोंच मारकर खा लिया। जिनकी जिह्वा बगुले के समान है, जिनको अपनी क्षुधा शान्त करनी है और उसके लिये वे मत्स्याहार करते हैं; उसके स्थान पर भक्त की जिह्वा हंसिनी है, केवल भगवान के गुणों के मोती ही चुगती है, प्रभु उन्हीं के हृदय में निवास करते हैं। ❖ **(क्रमशः)** ❖

मानव-वाटिका के सुरभित पुष्प

डॉ. शरद् चन्द्र पेंढारकर

(६५) श्रद्धावान अर्जित करता ज्ञान

बालक कालीदास के मात-पिता का निधन उनके बचपन में ही हो जाने के कारण उनका पालन-पोषण एक ग्वाले ने किया था। इस कारण वे निरक्षर ही नहीं, महामूढ़ भी थे। वहाँ के राजा की एक रूपवती व कलाभिज्ञ पुत्री थी। राजा ने मंत्री से उसके अनुरूप वर खोजने के लिये कहा। मंत्री राजकन्या का विवाह अपने पुत्र से करना चाहता था, परन्तु राजा द्वारा उसके प्रस्ताव को अस्वीकार करने के कारण वह राजा से प्रतिशोध लेना चाहता था। इसलिये उसने सोचा कि राजकन्या का विवाह किसी ऐसे मूर्ख व्यक्ति से कराया जाय, ताकि उसे जीवन भर पश्चाताप होता रहे।

एक दिन उस मंत्री ने कालीदास को एक पेड़ पर बैठे हुए देखा। वे जिस शाखा पर बैठे थे, उसी को काट रहे थे। मंत्री ने उन्हीं को वर रूप में पसन्द किया और राजसी वस्त्र पहनाकर उन्हें राजा के समक्ष प्रस्तुत किया। राजा ने भी गौर वर्ण के हृष्ट-पुष्ट कालीदास को पसन्द कर लिया और खूब धूमधाम से राजकन्या का उनके साथ विवाह कर दिया। परन्तु रात के समय राजकन्या समझ गई कि उसका पति निपट मूर्ख है। उसने कालीदास को तुरन्त राजमहल छोड़ने को कहा और यह भी निर्देश दे दिया कि जब तक वे विद्वान् नहीं बन जाते, तब तक राजमहल में कदम न रखें।

कालीदास अपमानित होकर माँ-काली के मन्दिर में गये और प्रार्थना की – ''माँ, मेरे जैसे मूर्ख व्यक्ति का जीवन निरर्थक है, अत: अपना शीश मैं तुम्हें अर्पित करता हूँ'' – यह कहकर उन्होंने प्रतिमा के हाथ की तलवार ले ली और अपना शीश काटने को उद्यत हुए। माँ-काली उनकी श्रद्धा-भक्ति देखकर प्रसन्न हुईं और प्रकट होकर उनसे वर माँगने को कहा। कालीदास ने प्रतिभाशाली तथा विद्वान् बनाने का वर माँगा। माँ ने 'तथास्तु' कहा और अन्तर्धान हो गईं।

कालीदास तुरन्त राजमहल में आये। राजकन्या ने उनसे प्रश्न किया – **अस्ति कश्चित् वाक् विशेष:?** – (क्या तुम्हारी वाणी में कोई विशिष्ट गुण आया है?)। कालीदास ने इस प्रश्न के प्रारम्भिक तीन शब्दों – 'अस्ति, कश्चित् और 'वाक्' से प्रारम्भ करते हुये तीन वाक्यों की रचना करके सुना दिया – **अस्ति उत्तरस्यां दिशि देवतात्मा हिमालयोनाम नगाधिराज:** – (भारत के उत्तर दिशा में देवता-स्वरूप पर्वतों का राजा हिमालय स्थित है। **कश्चित् कान्ता विरह गुरुणा स्वाधिकारात् प्रमत्त: यक्ष:** – (कार्य करने से चूकने के कारण यक्ष भार्या के विरह से दु:खी था) और **वाग्-अर्थौ इव संपृक्तौ वागर्थ प्रतिपत्तये जगत: पितरौ वन्दे पार्वती परमेश्वरौ** – (अपने शब्दों में अर्थ की निष्पत्ति के लिये, जो शब्द तथा उसके अर्थ के समान संयुक्त हैं, ऐसे जगत् के माता-पिता पार्वती तथा परमेश्वर को मैं प्रणाम करता हूँ।

बाद में यही वाक्य उनके द्वारा रचित क्रमश: 'कुमार-सम्भव', 'मेघदूत' तथा 'रघुवंश' नामक प्रसिद्ध महाकाव्यों के प्रारम्भिक वाक्य बने।

व्यक्ति यदि श्रद्धा भाव से व्याकुल होकर आर्त स्वर में प्रभु से प्रार्थना करता है, तो वे भी द्रवित होकर उसे निहाल कर देते हैं, उसकी इच्छा पूरी कर देते हैं।

(६६) तरने को है दीनता, डूबन को अभिमान

कुरुक्षेत्र के मैदान में कौरव-पाण्डवों की सेना युद्ध करने के लिये सुसज्जित खड़ी थी। जहाँ अर्जुन सामने विपक्ष में अपने बन्धु-बान्धवों और गुरुजनों को देख उनके साथ युद्ध करने के लिये स्वयं को तैयार नहीं कर पा रहे थे, वहीं दूसरी ओर धर्मराज युधिष्ठिर के मन में अर्न्तद्वन्द्व मचा हुआ था। उन्होंने अपने कवच तथा अस्त्र-शस्त्रों को उतारकर रथ में रख दिया और पैदल ही भीष्म पितामह के पास जा पहुँचे। उनकी देखा-देखी उनके चारों अनुज और श्रीकृष्ण भी उनके पीछे चल पड़े। पाण्डव पक्ष के लोगों ने देखा, तो उन्हें भ्रम हुआ कि या तो वे आत्म-समर्पण कर रहे हैं अथवा भीष्म पितामह को अपने पक्ष में लाने की सोच रहे हैं।

युधिष्ठिर ने भीष्म पितामह को प्रणाम करके उनसे युद्ध के लिये अनुमति तथा आशीर्वाद की याचना की। फिर वे गुरु द्रोणाचार्य के पास गये। उन्होंने भी युधिष्ठिर को विजयी होने का आशीर्वाद दिया। साथ ही उन्होंने यह भी कहा – ''मेरे हाथों में शस्त्रास्त्र रहते मुझे कोई भी मार नहीं सकता।'' कृपाचार्य के पास जाने पर उन्होंने कहा कि वे अवध्य हैं, परन्तु वे उनकी विजय में बाधक नहीं बनेंगे, जबकि मामा शल्य ने कहा कि कर्ण सरीखे योद्धा से निपटना आसान नहीं है, इसलिये वे उसे हतोत्सहित करते रहेंगे।

गुरुजनों के प्रति दीनता व विनम्रता दिखाने तथा सम्मान देने का परिणाम यह हुआ कि उनके आशीर्वाद तथा शुभ-कामनाओं के कारण पाण्डवों को विजयश्री प्राप्त हुई। ❑

श्रीरामकृष्ण की कथाएँ और दृष्टान्त

(कथाओं व दृष्टान्तों के माध्यम से अपनी बातें समझाने की परम्परा वैदिक काल से ही चली आ रही है। श्रीरामकृष्ण भी अपने उपदेशों के दौरान कथाओं तथा दृष्टान्तों के माध्यम से धर्म के गूढ़ तत्त्व समझाते थे। यत्र-तत्र बिखरी इन मूल्यवान कथाओं को यहाँ धारावाहिक रूप से प्रस्तुत किया जा रहा है। जनवरी २००४ से जून २००५ तक और तदुपरान्त अप्रैल २००६ अंक से ये पुन: प्रकाशित हो रही हैं – सं.)

– १७६ –

आदेश से धर्म-प्रचार

यदि ऊपर से आदेश मिला हो, तो लोगों को धर्मशिक्षा देने में दोष नहीं। आदेश मिलने पर यदि कोई लोक-शिक्षा देता है, तो उसे कोई पराजित नहीं कर सकता। सरस्वती के पास से अगर एक भी किरण आ जाय, तो ऐसी शक्ति आ जाती है कि बड़े-बड़े पण्डित भी सिर झुका लेते हैं। परन्तु जिसे आदेश नहीं मिला, उपदेशों से कोई विशेष फल नहीं होता।

श्रीरामकृष्ण बताते हैं – "एक ब्रह्म-समाजी ने भाषण में कहा, 'मैं पहले खूब शराब पीता था, ऐसा करता था, वैसा करता था।' सुनकर लोग कहने लगे – 'अरे, यह कहता क्या है, शराब पीता था!' ऐसा कहने से उलटा फल हुआ। अत: सत् प्रवृत्ति का आदमी बिना हुए व्याख्यान से कोई उपकार नहीं होता।

बारीसाल के एक सरकारी अफसर ने कहा – "महाराज, आप प्रचार करना शुरू कर दीजिये, तो मैं भी कमर कसूँ।" इस पर श्रीरामकृष्ण ने उसे एक घटना सुनाई – "मेरे गाँव में हालदारपुकुर नाम का एक तालाब है। उधर के सभी लोग उसी के किनारे शौच आदि के लिये जाते थे। सुबह जो लोग वहाँ रहते, वे शौच करनेवालों पर गाली-गलौज की बौछार कर देते। पर इससे कोई लाभ नहीं होता। अगले दिन सुबह फिर वही घटना होती; लोग पुन: दिशा-मैदान करने वहीं आ जाते। लोगों ने कम्पनी-सरकार से शिकायत की। कुछ दिनों बाद एक सरकारी चपरासी आया और तालाब के पास नोटिस लगा गया। बस, वहाँ शौच बिलकुल बन्द हो गया!'

"इसीलिए हर किसी के व्याख्यान से कुछ लाभ नहीं होता। चपरास के रहने पर ही लोग बात सुनेंगे। ईश्वर का आदेश पाये बिना लोक-शिक्षा नहीं होती। जो लोक-शिक्षा देगा, उसमें बड़ी शक्ति चाहिए।

– १७७ –

घास खानेवाला बाघ

बकरियों के झुण्ड में एक बाघिन कूद पड़ी थी। बाघिन गर्भवती थी। कूदते समय उसको बच्चा हो गया। बाघिन उसी समय मर गयी, परन्तु उसका बच्चा बकरियों के झुण्ड में उन्हीं के साथ पलने लगा। बकरियाँ जब घास खातीं, तो वह भी उन्हीं के जैसे घास खाता। बकरियाँ जब मिमियातीं, तो वह भी मिमियाता। बाघिन का वह बच्चा धीरे-धीरे बड़ा हो गया। वह अब भी अपने को बकरी ही समझता था।

एक दिन एक दूसरा बाघ उस जंगल में आया। उसने बकरियों के इस झुण्ड पर धावा बोला। बकरियाँ भागने लगीं और वह उनके बीच घास खानेवाले उस बाघ को देखकर आश्चर्यचकित रह गया। उसने दौड़कर उसे पकड़ा, तो वह 'में-में' करते हुए चिल्लाने लगा। बाघ उसे घसीटते हुए तालाब के पास ले गया और बोला – "देख, पानी में अपना मुँह देख! तू भी मेरे ही जैसा है; और यह थोड़ा-सा माँस चख ले।" पर अपने को बकरी समझने वाला बाघ किसी भी प्रकार मांस खाने को राजी न हुआ, केवल मिमियाता रहा। तब जंगल के बाघ ने जबरन उसके मुख में मांस का टुकड़ा ठूस दिया। रक्त का स्वाद पाकर वह उसे खाने लगा। तब उस जंगल के बाघ ने उससे कहा – "अब तो तू समझ गया न कि मैं जो हूँ, तू भी वही है। अब आ जा, मेरे साथ जंगल में चल।"

श्रीरामकृष्ण कहते हैं – "कोई-कोई सोचता है कि मैं शायद बद्धजीव हूँ, मुझे ज्ञान-भक्ति नहीं होगी। परन्तु श्रीगुरु की कृपा होने पर भय की कोई बात नहीं है। वे समझा देते हैं कि तुम कौन हो और तुम्हारा स्वरूप क्या है।"

– १७८ –

चैतन्यदेव और संसारी लोग

संसारी लोगों से यदि कहो कि सब छोड़-छाड़कर ईश्वर के चरणों में मन लगाओ, तो वे कभी नहीं सुनेंगे। इसीलिये चैतन्यदेव और नित्यानन्द – दोनों ने आपस में विचार करके यह नारा निकाला – '**मागुर माछेर झोल** (मागुर मछली की रसेदार सब्जी), **युवती मेयेर कोल** (युवती स्त्री का अंक), **बोल, हरि बोल**।' पहले दोनों के लोभ से बहुत-से लोग 'हरि-बोल' में शामिल हो जाते। फिर हरि-नामामृत का कुछ स्वाद पाते ही समझ जाते थे कि 'मागुर मछली का झोल' और कुछ नहीं, बल्कि ईश्वर-प्रेम से उमड़ने वाले आँसू हैं। और युवती स्त्री है पृथ्वी – 'युवती स्त्री का अंक' अर्थात् भगवत्-प्रेम के कारण धरती पर लोटपोट हो जाना।

– १७९ –

जैसा गुरु वैसे चेले

आचार्य के लिये बाहर का त्याग भी आवश्यक है। श्रीरामकृष्ण बताते हैं – मैंने आदि ब्रह्म-समाज के आचार्य को देखा। सुना कि उसने दूसरी या तीसरी बार विवाह किया है! बाल-बच्चे बड़े-बड़े हो गये है! ऐसे लोग आचार्य हैं! ये लोग यदि कहें कि 'ईश्वर ही सत्य है और बाकी सब मिथ्या' – तो इनकी बात पर भला कौन विश्वास करेगा?

गुरु जैसा होगा, उसे चेले भी वैसे ही मिलेंगे। संन्यासी भी मन से त्याग करके यदि बाहर कामिनी-कांचन लेकर रहे, तो उसके द्वारा लोक-शिक्षा नहीं हो सकती। लोग कहेंगे, यह छिपकर गुड़ खाता है।

इसे समझाने के लिये श्रीरामकृष्ण एक घटना बताते हैं। सींथी के महेन्द्र वैद्य उनके भतीजे रामलाल को पाँच रुपये दे गये थे। उन्हें यह बात मालूम नहीं थी। रामलाल के बताने पर उन्होंने पूछा – किसे दिया है? उसने कहा – आपके लिए। पहले तो उन्होंने सोचा – दूधवाले को पैसा देना है, चलो, इन्हीं में से दे दिया जायेगा! परन्तु थोड़ी रात होने पर वे उठकर खाट पर बैठ गये – बड़ी बेचैनी हो रही थी। लगता था, मानो उनकी छाती में कोई बिल्ली के जैसा खरोंच रहा हो! तब उन्होंने रामलाल के पास जाकर फिर पूछा – 'उसने तेरी चाची को तो नहीं दिया है?' वे बोले – 'नहीं।' तब श्रीरामकृष्ण ने कहा – 'तू अभी जाकर रुपये लौटा आ, नहीं तो मुझे शान्ति नहीं होगी।'' रामलाल जब सुबह उठकर रुपये लौटा आये, तभी उनकी तबीयत ठीक हुई।

– १८० –

डाल-पत्तियाँ मत गिनो

दो मित्र एक आम के बगीचे में गए। उनमें से एक मित्र, जिसकी सांसारिक बुद्धि प्रबल थी, अमराई में पहुँचते ही इस बात का हिसाब करने लगा कि वहाँ कुल कितने पेड़ हैं, किस पेड़ पर कितने आम हैं, पूरे बगीचे के फलों की कीमत क्या होगी, आदि आदि। पर दूसरे मित्र ने बगीचे के मालिक के पास जाकर उससे मित्रता कर ली और बड़े आनन्दपूर्वक आमों को तोड़कर एक पेड़ के नीचे बैठकर खाने लगा।

इन दोनों में से कौन ज्यादा बुद्धिमान है? आम खाओ, तो पेट भरेगा। पेड़-पत्तों को गिनने और हिसाब-किताब करने से क्या लाभ? ज्ञानाभिमानी लोग निरर्थक तर्क-युक्ति द्वारा सृष्टि की कारण-मीमांसा आदि में ही लगे रहते हैं, परन्तु वे भक्तगण ही सच्चे बुद्धिमान् हैं, जो सृष्टिकर्ता परमेश्वर की कृपा प्राप्त करके संसार में परमानन्द का उपभोग करते हैं।

श्रीरामकृष्ण कहते हैं – ''इस संसार में तुम्हें मनुष्य का शरीर ईश्वर-प्राप्ति के लिये साधना करने को ही मिला है। ईश्वर के चरण-कमलों में कैसे भक्ति हो, उसी के लिये प्रयास करो। तुम्हें व्यर्थ की बातों से क्या मतलब? दर्शन-शास्त्र लेकर विचार करने से तुम्हारा क्या लाभ होगा? देखो, आधे पाव शराब से ही तुम्हें नशा होता हो, तो फिर शराबवाले की दूकान में कितने मन शराब है – इसका हिसाब लगाकर क्या करोगे?''

– १८१ –

अज्ञान से भेद होवे

शुकदेव ब्रह्मज्ञान पाने के लिए जनक के पास गए थे। जनक ने कहा – ''पहले दक्षिणा दो।'' शुकदेव बोले – ''जब तक उपदेश नहीं मिल जाता, तब तक गुरु-दक्षिणा कैसे दूँ?'' जनक ने हँसते हुए कहा – ''तुम्हें ब्रह्मज्ञान हो जाने पर फिर गुरु और शिष्य का भेद थोड़े ही रह जाएगा? इसीलिए हमने पहले दक्षिणा की बात कही।''

जब तक ईश्वर का दर्शन नहीं होता, तभी तक गुरु-शिष्य का सम्बन्ध रहता है।

– १८२ –

ईश्वर रस-समुद्र हैं

श्रीरामकृष्ण ने एक बार नरेन्द्र से कहा – ''ईश्वर रस के समुद्र हैं। क्या तुझे इस रस के समुद्र में डुबकी लगाने की इच्छा नहीं होती? अच्छा, मान ले कि एक कटोरे में रस भरा हुआ है और तू मक्खी बना है। तू कहाँ बैठकर रस पीयेगा?'' नरेन्द्र बोले – ''किनारे पर बैठकर मुँह बढ़ाकर रस पीऊँगा।' श्रीरामकृष्ण ने पूछा – ''क्यों? बीच में जाकर डूबकर पीने में क्या हर्ज है?'' नरेन्द्र ने कहा – ''ज्यादा आगे बढ़ने पर उसमें गिरकर डूब जाने का भय है।''

श्रीरामकृष्ण बोले – ''बेटा, इस सच्चिदानन्द-समुद्र में मरने का भय नहीं है। यह तो अमृत का सागर है। उसमें डूबने से मनुष्य मरता नहीं, अमर हो जाता है। ईश्वर के प्रेम में मत्त होने से मनुष्य पागल नहीं हो जाता।''

अज्ञानी लोग सच्चिदानन्द-सागर में गोता लगाने से डरते हैं। कहते हैं – भक्ति-प्रेम में अति ठीक नहीं। पर ईश्वर-प्रेम में भी क्या कहीं अति होती है? श्रीरामकृष्ण कहते हैं – यह अमृत का समुद्र है। इसमें गोता लगाओ। कोई भय नहीं है। डूबने से अमर हो जाओगे।

❖ (क्रमशः) ❖

नारदीय भक्ति-सूत्र (१०)

स्वामी भूतेशानन्द

(रामकृष्ण संघ के बारहवें अध्यक्ष स्वामी भूतेशानन्द जी ने अपने १० वर्षों के जापान-यात्राओं के दौरान वहाँ के करीब ७५ जापानी भक्तों के लिये अंग्रेजी भाषा में, प्रतिवर्ष एक सप्ताह 'नारद-भक्ति-सूत्र' पर कक्षाएँ ली थीं। उन्हें टेप से लिपिबद्ध और सम्पादित करके अद्वैत आश्रम द्वारा एक सुन्दर ग्रन्थ के रूप में प्रकाशित किया गया है। वाराणसी के श्री रामकुमार गौड़ ने इसका हिन्दी अनुवाद किया है। – सं.)

**लोकोऽपि तावदेव भोजनादिव्यापार-
स्त्वाशरीर-धारणावधि ।।१४।।**

अन्वयवार्थ – **लोकः अपि** – लोकमत भी, **तावत् एव** – तभी तक, **भोजनादि** – भोजन आदि, **व्यापारः** – क्रिया-कलाप, **तु** – पर **आशरीर-धारण-अवधि** – शरीर-धारण काल तक।

अर्थ – शरीर रहने तक लोकमत का भी पालन और भोजन आदि क्रिया-कलाप करते रहना चाहिये।

जहाँ तक शरीर को ठीक रखने हेतु किये जानेवाले भोजन, निद्रा, व्यायाम आदि स्वाभाविक क्रिया-कलापों का प्रश्न है, इन्हें तब तक करते रहना चाहिये, जब तक शरीर रहे। व्यक्ति को भोजन करना होगा। जब तक शरीर रहे, उसे ठीक रखना होगा, इसलिये भोजन चलता रहता है। अन्य स्वाभाविक क्रिया-कलाप भी जारी रहते हैं। तात्पर्य यह है कि इनकी उपेक्षा या त्याग करने की जरूरत नहीं है। जब तक शरीर है, उसे ठीक रखने के लिये ऐसे सभी क्रिया-कलापों की जरूरत होगी, जिसके बिना जीवन नहीं चल सकता। परन्तु कहा जा सकता है कि हम जीवित रहने के बारे में चिन्ता क्यों करें? शरीर चला भी जाय, तो भी क्या होगा? इसका उत्तर यह है कि शरीर एक माध्यम है और शरीर ही न रहे, तो व्यक्ति भजन कैसे करेगा? अत: शरीर को ठीक रखने के लिये जो कुछ भी आवश्यक है, उसे करते रहना चाहिये, छोड़ना नहीं चाहिये। अभिप्राय यह है कि व्यक्ति को आत्महत्या नहीं करना चाहिये। सभी क्रिया-कलापों को छोड़ देने का अर्थ है – आत्महत्या करना।

अत: हम शरीर-रक्षण के नियमों की उपेक्षा न करें। कभी-कभी देखने में आता है कि लोग शरीर को ठीक रखने में उपयोगी कुछ शारीरिक नियमों के पालन में उदासीनता बरतते हैं। भक्तियोग का ऐसा निर्देश नहीं है। व्यक्ति को शरीर को ठीक हालत में रखनेवाले स्वास्थ्य के सभी नियमों का अवश्य पालन करना चाहिये। इससे व्यक्ति अबाध रूप से भक्ति का अभ्यास करने में समर्थ होगा और यदि उसकी उपेक्षा के कारण शरीर रुग्ण या दुर्बल हुआ, तो उसे कष्ट भोगना पड़ेगा। फिर इसका उसके आध्यात्मिक जीवन पर भी दुष्प्रभाव होगा। अत: सहज भाव से शरीर को सावधानीपूर्वक सुरक्षित रखना चाहिये। स्वामी ब्रह्मानन्द कहते हैं कि एक भक्त को वैसे ही अपने शरीर की देखभाल करनी चाहिये, जैसे कि एक गणिका, क्योंकि वह जानती है कि यदि शरीर दुर्बल हुआ, तो उसका व्यवसाय टूट जायेगा। उसी प्रकार यदि भक्त का शरीर बीमार पड़ता है, तो उसकी साधना दुष्प्रभावित होती है। इसलिये हमें शारीरिक नियमों के पालन में उपेक्षा नहीं करनी चाहिये। पूरी सतर्कता के साथ इन नियमों का पालन करते रहना चाहिये। शरीर के माध्यम से ही हम ईश्वर-प्राप्ति का प्रयास करते हैं, अत: शरीर को हमें यथेच्छा हल्के तौर पर नहीं लेना चाहिये। लोग उपवास कर-करके प्राय: अपना स्वास्थ्य चौपट कर डालते हैं। शरीर के साथ वे कई तरह की कठोरता करते हैं। यह ठीक नहीं है, क्योंकि यह हमारे शरीर-रूपी उस यंत्र की सुरक्षा को प्रभावित करता है, जिसके द्वारा हमें भक्ति का अभ्यास करना है। अत: शरीर की उपेक्षा नहीं करनी चाहिये।

इसलिये जब अनन्यता का उल्लेख होता है, तो यहाँ इस बात को विशेष रूप से बताया जाता हैं। अनन्यता का अर्थ है – केवल ईश्वर में ही निवास करना।

तल्लक्षणानि वाच्यन्ते नानामतभेदात् ।।१५।।

अन्वयवार्थ – **तत्-लक्षणानि** – उसके लक्षण, **मत-भेदात्** – मतों या विचारों की विभिन्नता के कारण, **नाना** – अनेक, **वाच्यन्ते** – कहे गये हैं।

अर्थ – भक्ति के विभिन्न लक्षण बताये जा रहे हैं, क्योंकि इस विषय में (विभिन्न आचार्यों के) विभिन्न मत हैं।

यहाँ पर, भक्तिमार्ग के कई आचार्यों के विभिन्न दृष्टिकोणों की व्याख्या की जा रही है। भक्ति की विभिन्न परिभाषाएँ दी

जा रही हैं। मतों की विभिन्नता के कारण कई परिभाषाएँ हैं। विभिन्न आचार्य भक्ति की भिन्न-भिन्न परिभाषाएँ देते हैं। जैसा कि हम देखेंगे, ये सभी परिभाषाएँ भक्ति के विचार को स्पष्ट करने में किसी-न-किसी प्रकार से सहायक ही हैं।

पूजादिष्वनुराग इति पाराशर्यः ।।१६।।

अन्वयवार्थ – **पूजा-आदिषु** – पूजा तथा वैसी ही अन्य क्रियाओं में, **अनुरागः** – प्रेम या आकर्षण, **इति** – ऐसा, **पाराशर्यः** पाराशर के पुत्र व्यास (**मन्यते** – मानते हैं)।

अर्थ – व्यास के मतानुसार, भक्ति का अर्थ है – (शास्त्रों द्वारा निर्दिष्ट) पूजा आदि के प्रति अनुराग या आकर्षण।

व्यास पुराणों के रचयिता हैं और उनमें भागवत विशेष महत्त्वपूर्ण है। शास्त्रों में पूजा के आनुष्ठानिक रूप से लगाव को विशेष महत्त्व दिया गया है, ताकि इन पूजा-अनुष्ठानों के द्वारा ईश्वर-प्रेम उत्पन्न हो। ये पूजा-अनुष्ठान प्रारम्भिक साधक के लिये अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं, क्योंकि वह प्रेम की उच्चतर अभिव्यक्तियों का चिन्तन नहीं कर सकता। भक्तिमार्ग में, ये उच्चतर अभिव्यक्तियाँ उसका प्रारम्भिक कदम नहीं हो सकतीं।

कथादिष्विति गर्गः ।।१७ ।।

अन्वयवार्थ – **कथा** – ईश्वरीय लीला-कथा, **आदिषु** – आदि **इति** – ऐसा कहते हैं, **गर्गः** – गर्ग ऋषि।

अर्थ – गर्ग के मतानुसार अवतारों के रूप में ईश्वरीय लीलाओं की कथा के प्रति आकर्षण या अनुराग (भक्ति) है।

भक्ति के एक आचार्य – गर्ग ऋषि कहते हैं कि कथा अर्थात् भगवान के नाम, गुण, जीवन-चरित आदि के प्रति प्रेम को भक्ति कहते हैं। हम देखते हैं कि ईश्वर के गुणगान, उनकी लीला के विविध प्रसंगों तथा विभिन्न अवतारों के जीवन-चरितों को सुनने से उनके प्रति भक्ति बढ़ती है।

आत्मरत्यविरोधेनेति शाण्डिल्यः ।।१८।।

अन्वयवार्थ – **आत्मरति** – आत्मा से प्रेम, **अविरोधेन** – उसके विरोधी वस्तुओं का त्याग, **इति** – ऐसा कहते हैं, **शाण्डिल्य** – ऋषि शाण्डिल्य।

अर्थ – शाण्डिल्य के मतानुसार – भक्तिपथ में हानिकारक सभी वस्तुओं को छोड़कर अपनी आत्मा के समान ईश्वर से प्रेम करना भक्ति है।

ऋषि शाण्डिल्य द्वारा रचे हुए भी कुछ भक्तिसूत्र मिलते हैं। वे भक्ति की एक अलग परिभाषा देते हैं। शाण्डिल्य कहते हैं कि आत्मा के प्रति आसक्ति या प्रेम को ही भक्ति कहते हैं। यहाँ 'आत्मा' शब्द का अर्थ सीमित आत्मा नहीं है। ईश्वर सभी की आत्मा हैं; अत: आत्मा के प्रति प्रेम या ईश्वर के प्रति प्रेम ही भक्ति है – यह एक सरलतर कथन है। अर्थात् हमारा ईश्वर-प्रेम हमारे आचरण द्वारा प्रकट होगा। जब हमारा आचरण ऐसा होगा कि हमारे द्वारा ऐसा कुछ भी नहीं किया जायेगा, जो उस प्रेम को अर्जित करने का विरोधी हो, तब हम सच्चे ईश्वर-प्रेमी होंगे।

इस सूत्र और इसके पूर्ववर्ती सूत्र में क्या भेद है? पिछले सूत्र में साधन के प्रति आसक्ति है। और यहाँ, नकारात्मक रूप से कहा गया है कि ईश्वर के प्रति हमारी आसक्ति में जिन चीजों के प्रति आसक्ति प्रतिकूल या हानिकारक नहीं है, वही भक्ति है। यह एक नकारात्मक कथन है।

नारदस्तु तदर्पिताखिलाचारता तद्विस्मरणे परम-व्याकुलतेति च ।।१९।।

अन्वयवार्थ – **नारदः** – ऋषि नारद, **तु** – परन्तु, **तद्-अर्पित-अखिल-आचारता** – सभी आचरणों का ईश्वर के प्रति समर्पण, **च** – और, **तद्-विस्मरणे** – उन्हें भूलने पर, **परम** अत्यन्त, **व्याकुलता** – आकुलता, (भक्ति है), **इति** – ऐसा, (**मन्यते** – मानते हैं)।

अर्थ – परन्तु नारद का मानना है कि अपने सभी आचरणों का ईश्वर के प्रति समर्पण और उनकी विस्मृति होने पर परम व्याकुलता ही भक्ति है।

वर्तमान सूत्र नारद की अपनी परिभाषा का विवरण देता है। पिछली तीनों परिभाषाओं से अलग, नारद कहते हैं कि हमारे सभी आचरण, सभी क्रिया-कलाप ईश्वर को समर्पित होने चाहिये। अपने सभी क्रिया-कलापों का ईश्वर में समर्पण ही भक्ति है। एक अन्य बात भी कही गई है – उनका विस्मरण होने पर परम व्याकुलता। नारद की परिभाषा में ये दोनों पहलू समाहित हैं। पहला यह है कि हमारे सभी क्रिया-कलाप भगवच्चरणों में समर्पित हों अर्थात् हम जो भी करें, वह सब प्रभु-सेवा के अभिप्राय से होना चाहिये।

यहाँ तक कि हमारे साधारण क्रिया-कलाप भी ईश्वर को समर्पित किये जाने हैं। सब कुछ ईश्वर को समर्पित करना है। दूसरी बात यह है कि केवल यह कहना ही काफी नहीं है कि हम अपने सभी क्रिया-कलाप ईश्वर को समर्पित कर रहे हैं। इसलिये यहाँ एक सावधानी बतायी गयी है – उन्हें भूल जाने पर हमें परम कष्ट हो, ईश्वर के विस्मरण के फलस्वरूप उत्पन्न होनेवाली मानसिक पीड़ा का बोध हो। यही भक्ति है।

भागवत में गोपियों के आचरण में, ईश्वर को भूल जाने पर उनसे दूर रहने से होनेवाली तीव्र विरह-व्यथा का विशद वर्णन मिलता है। वहाँ बताया गया है कि श्रीकृष्ण गौएँ चराने के लिये बाहर गये हैं और इस कारण गोपियों ने सारे दिन उनका दर्शन नहीं किया है। श्रीकृष्ण के गायें चराकर लौटने पर वे सदैव उन्हें अपने आँखों के सम्मुख ही रखना चाहती हैं, ताकि पल भर के लिये उनका अदर्शन न हो। कहते हैं कि पलकों के गिरने पर वे आँखों से नाराज हो जाती थीं, क्योंकि पलकें झपकने पर उनका एक पल बेकार

चला जाता था। उनका विचार था कि जिस स्रष्टा ने पलकों का गिरना बनाया, उसे इस बात का जरा भी ज्ञान नहीं रहा होगा कि एक भक्त को इससे कितनी पीड़ा हो सकती है; वह एक पल भक्त को एक युग के समान लगता है। एक पल के लिये भी उनका अदर्शन मानो एक युग के अदर्शन के समान था। वहाँ वही तीव्रता दिखाई गई है और प्रेम की यही तीव्रता भक्ति की सच्ची कसौटी है।

इस प्रकार दो बातें कही गई हैं – हम जब तक जीवित रहें, तब तक अपने सभी क्रिया-कलापों को ईश्वरोन्मुख करते रहें, उनकी सेवा करते रहें, उन्हें प्रसन्न करें। मन में उनका स्मरण न हो, तो हमें तीव्र पीड़ा का बोध होना चाहिये। यही भक्ति है। अत: भक्ति का अर्थ सुख या प्रसन्नता कदापि नहीं है। हम भ्रमवश सोचते हैं कि भक्ति हमें केवल आनन्द ही देगी। नहीं, भक्ति तीव्र पीड़ा भी देगी। वह कष्ट, वह पीड़ा इतनी तीव्र होती है कि उसकी तुलना किसी अन्य पीड़ा से नहीं हो सकती। वस्तुत: उस आनन्द की भी तुलना किसी अन्य आनन्द से नहीं हो सकती। अत: भक्त के लिये आनन्द और पीड़ा – दोनों ही चरम प्रकार के होते हैं। जब वह ईश्वर से जुड़ा होता है, उसके क्रिया-कलाप ईश्वरोन्मुख होते है, तो वह प्रसन्न रहता है, परन्तु ज्योंही मन उन्हें भूल जाता है, तो भक्त को इससे तीव्र पीड़ा का बोध होता है। और भक्त के जीवन में ऐसे पलों का आना कोई अस्वाभाविक नहीं है। अत: ऐसे पलों के आने पर उसकी पीड़ा अवर्णनीय तथा अतुलनीय हो जाती है। एक भक्त का जीवन आनन्द और दु:ख का सम्मिश्रण है, परन्तु ये दोनों ही असाधारण तीव्रता वाले होते हैं। नारद ने भक्ति की यही परिभाषा दी है।

ऐसे भक्त के लिये औपचारिक तरीके से जप या ध्यान का अभ्यास करना आवश्यक नहीं है। उसका सम्पूर्ण जीवन ईश्वर में तन्मय है, अत: उसके लिये धर्म की औपचारिक साधना का प्रश्न ही नहीं उठता। भागवत में महर्षि कपिल ने अपनी माता देवहूति को दिये गये आध्यात्मिक निर्देशों के रूप में साधना के कुछ प्रकारों का वर्णन किया है। वहाँ वे कहते हैं – "साधक को अपने कर्तव्यों का पालन करना चाहिये; ये कर्तव्य उसके दैनन्दिन कर्तव्य या विशेष पर्वों पर होनेवाले कर्तव्य हो सकते हैं। उसे स्तुति करनी चाहिये और दूसरों को क्षति न पहुँचाने वाले क्रिया-कलापों के आचरण में लगना चाहिये। हमें सभी प्राणियों में निवासी अन्तर्यामी के रूप में ईश्वर का चिन्तन करना चाहिये। हमें साधुसंग करना चाहिये। हमें आध्यात्मिक रूप से उन्नत और महान् लोगों के प्रति आदर-भाव दिखाना चाहिये। जो आध्यात्मिक रूप से कम उन्नत हैं, उनके प्रति हमें दया, सहानुभूति तथा करुणा-भाव रखना चाहिये। समान लोगों के प्रति हमें मैत्री-भाव रखना चाहिये। भक्त को अपनी वासनाओं पर संयम और मन पर नियंत्रण रखना चाहिये। उसे अपना समय भगवान के नाम-गुणगान में लगाना चाहिये। उसे सरल होना चाहिये। उसे सांसारिक चीजों से अनासक्त रहना चाहिये। उसे अभिमान मुक्त होना चाहिये।" भक्त का मन जब इस तरह के अभ्यासों से पवित्र हो जाता है, तब भगवान का नाम सुनने पर उसका मन तत्काल उन्हीं में लीन हो जाता है। ❖ **(क्रमश:)** ❖

पुरखों की थाती

किं जन्मना भवति पैत्रगुणेन किं वा ।
शक्त्या हि याति निजया पुरुषः प्रतिष्ठाम् ।।

– अपनी स्वयं की शक्ति (या गुणों) से ही व्यक्ति को सम्मान प्राप्त होता है, अपने पिता या कुल का गुणगान करने से क्या लाभ?

कुम्भो हि कूपमपि शोषयितुम न शक्तः ।
कुम्भोद्भवेन मुनिनाम्बुधिरेव पीतः ।।

– घड़ा या कुम्भ एक कुएँ तक को सुखाने में समर्थ नहीं है; परन्तु कुम्भज (घड़े से उत्पन्न) अगस्त्य मुनि पूरा समुद्र ही पी गये।

गंगा पापं शशी तापं दैन्यं कल्पतरुस्तथा ।
पापं तापं च दैन्यं च हन्ति सन्तो महाशयाः ।।

– गंगा पापों का नाश करती है, चन्द्रमा ताप का नाश करता है और कल्पतरु दीनता का नाश करता है; परन्तु विशाल हृदयवाले महापुरुष पाप-ताप तथा दीनता – तीनों का नाश करते हैं।

खद्योतो द्योतते तावद्-यावन्नोदयते शशी ।
उदिते तु सहस्रांशौ न खद्योतो न चन्द्रमाः ।।

– जुगनू तभी तक चमकता है, जब तक कि चन्द्रमा का उदय नहीं हो जाता और सूर्योदय हो जाने पर जुगनू तथा चन्द्रमा दोनों ही लुप्त हो जाते हैं; (अत: अपनी उपलब्धियों पर गर्व नहीं करना चाहिये।)

गते शोको न कर्तव्यो भविष्यं नैव चिन्तयेत् ।
वर्तमानेन कालेन वर्तन्ते हि विचक्षणाः ।।

– बीते हुए काल के लिये शोक नहीं करना चाहिये, भविष्य की भी चिन्ता नहीं करनी चाहिये; बुद्धिमान लोग वर्तमान काल में ही पूरा मनोनियोग करते हैं।

ईशावास्योपनिषद् (८)

स्वामी सत्यरूपानन्द

(प्रस्तुत व्याख्यान स्वामी सत्यरूपानन्द जी महाराज ने वर्षों पूर्व रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर के सत्संग-भवन में दिया था। इसका टेप से अनुलिखन पूना की सीमा माने ने किया तथा वक्ता की पूर्ण सहमति से इसका सम्पादन एवं संयोजन स्वामी प्रपत्त्यानन्द ने किया है।)

भगवान श्रीरामकृष्ण कहते हैं, नाव तो पानी में रहती है, पर वही नाव हमको नदी पार करा देती है। किन्तु यदि नाव में पानी आ जाय तो जीवन में खतरा आ जायेगा और वह हमें मझधार में डूबा देगी। ठीक वैसे ही यह देह हमें इसलिये मिली है कि हम इससे भवसागर के पार जा सकें। किन्तु सावधानी रखना होगा कि हम संसार में रहें, पर संसार -रूपी जल हमारे हृदय-रूपी नाव में न घुस जाय। अगर संसार हमारे भीतर घुस गया तो भवसागर में हम डूब जायेंगे। इसलिये कर्म करते समय यह सावधानी रखनी चाहिये कि यह संसार हमारे भीतर न आ जाय। इस उपनिषद का पहला मन्त्र 'ईशावास्यमिदं..' ने हमें यही बताता है कि यह संसार कैसे हमारे हृदय में प्रविष्ट न हो। अब इसे जीवन में कैसे उतारे? इसका उपाय ऋषि हमें द्वितीय मन्त्र में बताते हैं –

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः।
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे ।।२।।

– इस संसार में निष्काम भाव से कर्म करते हुये सौ वर्ष जीने की इच्छा करनी चाहिये। ऐसे निष्काम, ईश्वरार्थ कर्म करके व्यक्ति कर्म में लिप्त नहीं होता।

कर्म तो करना ही पड़ेगा। समस्या आती है कि त्यागपूर्वक कर्म कैसे करें? ऋषि मन्त्रद्रष्टा थे। सत्य का दर्शन करके उन्होंने यह बात भी हमें बताया है। गीता हमें बताती है कि इस जगत् में तुम बिना कर्म के नहीं रह सकते। उपनिषद हमें कहता है कि कर्म करते हुये ही 'शतं समा: जिजीविषेत्' – सौ साल तक जीने की इच्छा करो। संसार में आये हो तो संसार से भागो मत। यह कर्मक्षेत्र है। इस कर्मक्षेत्र में रहकर ही मुक्ति का विधान करना पड़ेगा, तपस्या करनी पड़ेगी। इसलिये सौ वर्ष तक जीने की इच्छा करो। ऐसा क्यों करें? – तो उपनिषद हमें कहता है 'एवं त्वयि ...नरे' – हे मनुष्य त्यागपूर्वक कर्म छोड़कर कर्म के बन्धन से मुक्त होने का और कोई उपाय नहीं है। कर्म करते हुये दीर्घ जीवन जीने की इच्छा करो – यदि ऐसी इच्छा करोगे तो 'न कर्म लिप्यते नरे' – इस संसार में कर्म करते हुये भी इसमें लिप्त नहीं होगे।

यह संसार ईश्वर से आच्छादित है, ऐसा समझकर इस संसार में कर्म करते रहो और सौ वर्ष तक जीने की इच्छा करो। अकर्मण्य मत बनो। जहाँ भी जिस अवस्था में हम हैं हमें स्वधर्म का त्याग नहीं करना चाहिये। कर्म के माध्यम से ही हम बन्धन से मुक्त हो जायेंगे। इस मन्त्र में कहा गया है कि 'शत वर्ष जीने की इच्छा करो। उपनिषदों ने मनुष्य की आयु सौ वर्ष मानी है। ईश्वर ने ये जीवन दिया है तो 'शतं समा: जिजीविषेत्' सौ साल तक जीने की इच्छा करो।

सौ वर्ष तक कैसे जीवन-यापन करें? हम ईश्वर और उनके सन्तानों की सेवा करें। कर्मों में जुटे हुये ये सब करते रहें। यहाँ एक प्रश्न मनुष्य के व्यक्तित्व के सम्बन्ध में आता है। अगर हम गहराई से उपनिषदों के मन्त्रों को देखेगें, तो समझ पायेंगे कि उपनिषद मनुष्य के चेतना के विकास की प्रक्रिया है, चैतन्य के विकास की प्रक्रिया है। हम सौ वर्ष जीने की इच्छा क्यों करते हैं? हमारे मन में हजारों इच्छायें उठती रहती हैं। इन आने-जाने वाली इच्छाओं पर यदि हम दृष्टि रखेंगे, तो समझ पायेंगे कि हमारे जीवन में तीन इच्छायें हमेशा मिलती हैं –

(१) जीजीविषा - जीने की इच्छा।

(२) जिज्ञासा - जानने की इच्छा।

(३) सुखेच्छा - आनन्द या सुख पाने की इच्छा।

ये तीन इच्छायें हमेशा रहती ही हैं। ऐसा क्यों? कारण यह है कि यह हमारा स्वरूप है। वेदान्त में आत्मस्वरूप को सत्-चित्-आनन्द कहा गया है। यह हमारा स्वभाव है। सत् या सत्य का स्वरूप है कि वह शाश्वत रहता है। हमे भी हमेशा जीवित रहने की इच्छा होती है। यह सत्, ब्रह्म और आत्मा का स्वरूप है। इसलिये हमें जीने की निरन्तर इच्छा बनी रहती है। चित् कहते हैं ज्ञान को। हमारे भीतर ज्ञान-प्राप्ति की बहुत इच्छा रहती है। संसार में जो कुछ है, उसे हम जान सकें, ऐसी हम इच्छा करते हैं। इससे ज्ञानानन्द मिलता है। इस मन्त्र में कहा गया है – जिजीविषेत् – जीने की इच्छा करो। भोग की इच्छा मत करो। क्यों जीयें? मनोविज्ञान का यह सिद्धान्त है कि मनुष्य बिना किसी प्रयोजन या फल की आशा के बिना उद्देश्यहीन होकर न तो कार्य कर सकता है और न ही कई दिनों तक जीवित रह सकता है। ऐसा व्यक्ति पागल हो जाता है, यह मनोवैज्ञानिक सत्य है। केवल जीवन-निर्वाह की इच्छा, किसी को सौ साल जीने के लिये प्रेरित नहीं कर सकती। भोग की इच्छा मत करो, किन्तु जीवित रहने की इच्छा करो – ऐसा क्यों? यद्यपि यह असम्भव लगता है, तथापि यह प्रश्न मन में उठता है।

उपनिषद कहता है कि ऐसी इच्छा करने से तुम कर्म में लिप्त नहीं होगे। एक बहुत बड़े मनोवैज्ञानिक सत्य का उद्घाटन यहाँ किया गया। कर्म हमारे बन्धन का कारण है और यदि विचार करके देखें, तो हम पायेंगे कि कोई भी प्राणी बन्धन में नहीं रहना चाहता है। ऐसा क्यों होता है? क्योंकि यह हमारे स्वभाव में है कि हम मुक्त होना चाहते हैं। पशु-पक्षी भी बन्धन से छुट जाना चाहते हैं। मनुष्य कभी किसी की अधीनता स्वीकार नहीं करना चाहता है। हमारे देश के स्वतंन्त्रता-सेनानियों या महापुरूषों ने पराधीनता के दिनों में स्वाधीनता के लिये अपना जीवन-त्याग दिया। इसलिये हमारा उपनिषद कहता है कि हम अपने जीवन में भोग की इच्छा से भी अधिक ऊँचा कोई आदर्श रखें कि सौ वर्ष तक इन्द्रियों के भोग से जो सुख हमको मिलेगा, उससे करोड़ों गुना अधिक सुख हमें त्याग से मिलेगा, जब हम बन्धनों से मुक्त हो जायेंगे, तब मिलेगा। भोग बन्धन है। इन्द्रियों और मन की दासता सबसे बड़ा बन्धन है। इन्द्रिय और मन के हम दास हैं, इसके लिये कोई प्रमाण देने की आवश्यकता नहीं है। जब बन्धन का प्रश्न आता है, तब यह बन्धन विशेषत: मनुष्य के जीवन में होता है। पशुओं के जीवन में बाहरी बन्धन होता है। हम पशुओं को रस्सी से बाँध देते हैं। यह भौतिक बन्धन है। उस बन्धन से वह छुटकारा पाना चाहता है। किन्तु मनुष्य के जीवन में आन्तरिक और बाह्य ये दो प्रकार के बन्धन रहते हैं। हम हमेशा अनुभव करते हैं कि हम काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मत्सर आदि अपनी विभिन्न प्रकार की इच्छाओं और वासनाओं के बन्धन में हैं। क्या हम इससे छूटना नहीं चाहते हैं? हम लोग भीतर के बहुत से बन्धनों से बँधे हुये हैं और इससे हम छुटकारा पाना चाहते हैं। क्योंकि मनुष्य का स्वरूप है – नित्य-मुक्त-शुद्ध-बुद्ध-चैतन्य आत्मा। मुक्ति की इच्छा हमारे जीवन की मौलिक इच्छा है। इस इच्छा का स्थायी दमन नहीं किया जा सकता। किसी-न-किसी जन्म में मनुष्य को यह अवश्य लगेगा कि मैं अन्दर और बाहर दोनों बन्धनों से मुक्त हो जाऊँ। मुक्ति की इच्छा को दबाया नहीं जा सकता। हमारे कितने महापुरुषों को भौतिक सुख उपलब्ध था, किन्तु उनके मन में यह विवेक जागा कि इन भोग-इच्छाओं से मुक्त हो जाऊँ। हमें मुक्ति की इच्छा को सत्संग, सद्ग्रन्थों आदि के द्वारा प्रबल बना देना चाहिये। अगर यह इच्छा प्रबल हो गयी, तब समझ में आयेगा कि कर्म में आसक्ति हमारे बन्धन का कारण है। किन्तु इसका दूसरा पक्ष यह है कि संसार में जो कुछ हमें दिख रहा है, जो चमत्कार हमें दिख रहे हैं, चाहे वह विज्ञान के क्षेत्र में हो या आध्यात्मिकता के क्षेत्र में हो, इन सभी विकासों के पीछे मनुष्य के जीवन में इस बन्धन का बोझ और उससे मुक्त होने की इच्छा है और संघर्ष है। जब मनुष्य ने देखा कि पक्षी उड़ सकता है, किन्तु मैं नहीं उड़ सकता, तो उसने संघर्ष किया और हवा में उड़ने का उपकरण ढूँढ़ निकाला। इससे यह सिद्ध हुआ कि मनुष्य विवशता या बन्धन का बोध कर रहा था और उसने इस प्रकृति के अधीन नहीं रहने की दृढ़ इच्छा की। उसने सोचा कि चिड़ियाँ उड़ती है तो हम भी क्यों नहीं उड़ सकते? उसने निश्चय किया और हवाई जहाज का निर्माण कर दिया। जब मुक्ति की इच्छा और बन्धन का बोध, ये दोनों हमारे जीवन में संघर्ष के रूप में चलते हैं, तब समझ लेना चाहिये कि हम उन्नति के रास्ते पर हैं, हमारा आध्यात्मिक जीवन प्रारम्भ हुआ है। किन्तु यदि हमारे जीवन में मुक्ति की इच्छा जागृत नहीं हुई है और बन्धन का बोध हमें नहीं हो रहा है तो हमें सावधान होना चाहिये कि अभी तक हमारी चेतना जागृत नहीं हुई है। हमें कर्म करना है, किन्तु हम कर्म क्यों करें और उसके बन्धन से कैसे हम मुक्त हो जायँ? जैसे मुक्ति की इच्छा अदम्य है, वैसे ही जब हमने मानव-देह लिया है तो कर्म करने की विवशता भी आ जाती है। भगवान श्रीकृष्ण गीता में कहते हैं –

न हि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्।
कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः ।।३-५।।

– कोई भी किसी भी समय क्षणमात्र भी बिना कर्म किये नहीं रहता। क्योंकि सभी लोग प्रकृति के वशीभूत हो कर्म करने को बाध्य हैं। प्रकृति से हमारा जन्म हुआ है और प्रकृति निरन्तर कर्मरत है। अत: हम भी कर्म करने के लिये विवश हैं। तो फिर कर्म करते हुये उसके बन्धन से कैसे बचें?

हम मन में भोगेच्छा न रखकर कर्म करें। प्रश्न आता है कि अगर हम सुखी हैं तो इस झंझट में क्यों पड़ें? भगवान वेदव्यास भागवत में एक बड़ी अच्छी बात बताते हैं –

यश्च मूढतमो लोके यश्च बुद्धेः परं गतः ।
तावुभौ सुखमेधेते क्लिश्यत्यन्तरितो जनः ३/७/१७

– इस संसार में मूढ़, (अज्ञानी) और परमात्मा में समाहित व्यक्ति, ये दोनों ही सुखी रहते हैं। इसके अतिरिक्त सभी लोग दु:ख-कष्ट भोगते-रहते हैं।

या तो जो मूढ (मूर्ख) हैं, मानव देह में पशु के समान हैं, वे सुखी हैं अथवा जिनका मन परमात्मा में लीन हो गया है, वे सुखी हैं। इन दोनों के बीच के सभी लोग किसी-न-किसी प्रकार का कष्ट पाते ही रहते हैं।

किन्तु इस कष्ट से बचने का भी उपाय है। इस दूसरे मन्त्र में कहते हैं कि कुर्वन्नेवेह कर्माणि – यदि इस प्रकार का कर्म तुम भगवान के लिये करते हुये अपना जीवन बिताओ तो इस कष्ट से तुम बच सकते हो। इसके अतिरिक्त दूसरा कोई रास्ता नहीं है। जिजीविषेत् शतं समा: – हम दीर्घ जीवन चाहते हैं। किन्तु जीवन सार्थक नहीं हुआ तो उससे क्या

लाभ है? दूसरों के लिये कुछ नहीं किया, केवल अपने लिये ही जिया तो, वैसे जीवन से क्या लाभ हुआ? यदि इतना ही काफी नहीं है, तो हमें देखना पड़ेगा की हमारा जीवन कैसे सार्थक होगा? इसके समाधान में ऋषि सूत्र देते हैं – जब हम मन और इन्द्रियों की दासता से मुक्त होने का प्रयत्न करते हैं, तब जीवन सार्थक हो जाता है। संसार की बड़ी-से-बड़ी उपलब्धि जीवन को सार्थक नहीं कर सकती। जीवन की सार्थकता आत्मविजय में है। अपने शरीर और मन का स्वामी होकर इस संसार का भोग करने के लिये जब व्यक्ति समर्थ हो, तभी उसके जीवन में शान्ति हो सकती है। उपनिषद जो कर्म करने के लिये कहते हैं वह क्या है? उसे अब हम देखेंगे।

उपनिषद ने हमें बताया है कि एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे – कैसे कर्म करें? यह सब ईश्वर का है और ईश्वर ही इसका मालिक है और वही इस संसार को चलाता है। प्रकृति से हमारा जन्म हुआ है, तो कर्म तो छूटेगा नहीं, पर कर्तापन से छुटा जा सकता है। व्यक्ति अगर कर्तापन छोड़ दे, तो उसे ईश्वर की प्राप्ति हो सकती है। क्योंकि प्रभु ही सब कुछ कर रहे हैं। मैं तो प्रभु का दास हूँ। कर्म का प्रभाव हमारी भावनाओं के अनुसार होता है। कर्म हमको नहीं बाँधते। उसके पीछे जो भावना है, वह हमें बाँधती है। हमें देखना है कि हम प्रभु के लिये निष्काम होकर कर्म कर रहे हैं या दूसरों की सेवा के लिये कर्म कर रहे हैं या अपने स्वार्थ के लिये? अगर अपने स्वार्थ के लिये कर्म कर रहे हैं तो वह बन्धन का कारण हो जायेगा। यदि वही कर्म हम ईश्वर-प्रीत्यर्थ कर रहे हैं, तो वह कर्म हमारे मुक्ति का कारण हो जायेगा। तब हम अनुभव करेंगे कि 'मैं' नहीं 'तू'। हे प्रभो! तू ही इस संसार को चला रहा है। तुमने ही मुझे यह कार्य करने का अवसर दिया है। कर्म करते समय यदि इस प्रकार की भावना हमारे मन में आती है, तो छोटा-सा कर्म भी हमारे लिये महान बन जाता है। हमारे हृदय से छोटे-बड़े की बुद्धि चली जाती है। जब हमारे मन से कर्त्ता-बुद्धि चली जाती है, तब सभी कर्म हमारे लिये महान बन जाते हैं। सभी कर्म परमात्मा की पूजा बन जाते हैं। यह समस्त विश्व-ब्रह्माण्ड हमारे लिये मन्दिर बन जाता है।

आजकल हम बहुत से वयस्क लोगों को कष्टपूर्ण जीवन बिताते हुये देखते हैं। इसका कारण यह है कि उन्होंने अपना जीवन भोग-प्रधान रूप से बिताया है। इसलिये अब कष्ट पा रहे हैं। किन्तु उपनिषद कहता है कि ईश्वर का कार्य करते हुये सौ वर्ष जीने की इच्छा करो, तभी जीवन सुखी होगा।

❖ (क्रमशः) ❖
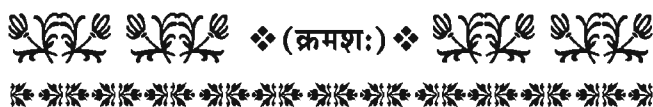
कृपा के भरोसे

स्वामी राजेश्वरानन्द सरस्वती

परिश्रम करे चाहे जितना भी लेकिन
कृपा के बिना काम चलता नहीं है।
निराशा निशा नष्ट होती न तब तक,
दया भानु जब तक निकलता नहीं है।।

दमित वासनाएँ अमित रूप ले जब
अन्तःकरण में उपद्रव मचातीं,
तब फिर कृपासिंधु श्रीराम जी के
अनुग्रह बिना मन सँभलता नहीं है।।

मृगवारि जैसे असत् इस जगत् से
पुरुषार्थ के बल पर बचना है मुश्किल
श्रीहरि के सेवक, जो छल छोड़ बनते
उन्हें फिर ये संसार छलता नहीं है।।

सद्‌गुरु शुभाशीष पाने से पहले
जलता नहीं ज्ञान-दीपक भी घट में
बहती न तब तक समर्पण की सरिता
अहंकार जब तक कि गलता नहीं है।।

राजेश्वरानन्द आनन्द अपना, पाकर
ही लगता है जग-जाल सपना
तन बदले कितने भी पर प्रभु भजन बिन
कभी जन का जीवन बदलता नहीं है।।

– २ –

ये तन कीमती है मगर है विनाशी
कभी अगले छन के भरोसे न रहना
निकल जायेगी छोड़ काया को पल में
सदा श्वांस धन के भरोसे न रहना।।

इक पल में योगी, इक पल में भोगी
पल भर में ज्ञानी, पल में वियोगी
बदलता जो क्षण-क्षण में वृत्ति अपनी
सदा अपने मन के भरोसे न रहना।।

हम सोचते काम दुनिया के कर लें
धन धाम अर्जित कर नाम कर लें
फिर एक दिन बन के साधू रहेंगे
उस एक दिन के भरोसे न रहना।।

तुझको जो मेरा-मेरा कहेंगे
जरूरी नहीं वे भी तेरे रहेंगे
मतलब से मिलते हैं दुनिया के साथी
सदा इस मिलन के भरोसे न रहना।।

राजेश अर्जित गुरु-ज्ञान कर लो
या प्रेम से राम गुणगान कर लो
अथवा श्रीराम-नाम रटो नित नियम से
किसी अन्य गुन के भरोसे न रहना।।

आत्माराम की आत्मकथा (३७)

स्वामी जपानन्द

(रामकृष्ण संघ के एक वरिष्ठ संन्यासी स्वामी जपानन्द जी (१८९८-१९७२) श्रीमाँ सारदादेवी के शिष्य थे। स्वामी ब्रह्मानन्द जी ने उन्हें संन्यास-दीक्षा प्रदान की थी। भक्तों के आन्तरिक अनुरोध पर उन्होंने बँगला भाषा में श्रीरामकृष्ण के कुछ शिष्यों तथा अपने अनुभवों के आधार पर कुछ प्रेरक तथा रोचक संस्मरण लिपिबद्ध किये थे। इसकी पाण्डुलिपि हमें श्रीरामकृष्ण कुटीर, बीकानेर के सौजन्य से प्राप्त हुई है। अनेक बहुमूल्य जानकारियों से युक्त होने के कारण हम इसका क्रमश: प्रकाशन कर रहे हैं। इसके पूर्व भी हम उनकी दो छोटी पुस्तकों – 'प्रभु परमेश्वर जब रक्षा करें' तथा 'मानवता की झाँकी' का धारावाहिक प्रकाशन कर चुके हैं – सं.)

कन्याकुमारी में

सौन्दर्य में सचमुच ही कन्याकुमारी अद्वितीय है! दो समुद्रों के मिलने का संगम-स्थल – रंगों का भेद गंगा-यमुना जितना न होने पर भी भेद है जरूर; और यही प्रकृति की अद्भुत सृष्टि-चातुरी है – एक है – तो भी एक नहीं है, भिन्न भी नहीं है। वहाँ वेदान्त का तत्त्व प्रकट हो रहा है। भेदाभेद-वादी इसे जानकर अवश्य आनन्दित होंगे। वहाँ बड़े मजे में दिन बीते। वह सौन्दर्य मानो आँखों से पी जाने की इच्छा होती थी। कन्याकुमारी की मूर्ति भी बड़ी सुन्दर है।

स्वामीजी जहाँ बैठकर, भारत के हित-चिन्तन में निमग्न हो गये थे और जहाँ बैठकर उनका सुदूर अमेरिका जाने का संकल्प दृढ़ हुआ था, वह स्थान भी देखा। उससे तो और भी अधिक आनन्दित हुआ, वे परम प्रिय हैं न, इसीलिये! वहाँ सहसा पूज्य तुलसी महाराज के दो संन्यासी शिष्यों – स्वामी निरंजनानन्द और वागीश्वरानन्द से भेंट हुई। यह प्रसंग अन्यत्र आ चुका है, इसीलिये यहाँ विस्तार से नहीं बता रहा हूँ।

मलाबार (केरल) जाने से ही समझ में आया कि सवर्णों का अत्याचार, राजा की मूर्खता, सामाजिक अव्यवस्था तथा धर्म-प्रचारकों की उदासीनता – समाज तथा राष्ट्र का कितना अहित कर सकती है? यह मुआ देश क्या अब भी नहीं समझेगा? वही पहले जैसा अत्याचार चल रहा है, राजा की ओर से कोई दिलासा नहीं है, उसे बन्द करने की भी चेष्टा नहीं है। इसी कारण हजारों निम्न श्रेणी के हिन्दू ईसाई हो रहे हैं। ऐसा कोई गाँव नहीं, जिसमें चर्च (गिरजाघर) न हो। इससे हम प्रतिदिन मित्रों को खो रहे हैं और शत्रुओं का दल बढ़ रहा है। इस ओर किसी का ध्यान नहीं है। दिमाग जड़ हो गया है। केवल पंजाब को छोड़ सारे भारत का यही हाल है, परन्तु दक्षिण में सर्वाधिक केरल में ही ऐसा दीख पड़ता है। हमारे कार्य ने सबसे निम्न श्रेणी के लोगों का स्पर्श तक नहीं किया है – वे कुछ भी नहीं जानते। जिनके बीच काम हो रहा है, वे साधारणत: उच्च वर्णीय हैं।

लौटने के दिन एक मजे की घटना हुई। जिन ब्राह्मण के घर से भोजन आता था, उन्होंने कहा – सबकी इच्छा है कि उस दिन मैं उनके घर जाकर आहार करूँ। राजी हुआ। उनके वृद्ध पिता मेरे पास बैठकर मलयालम भाषा में बहुत कुछ कहते रहे। उनका पुत्र अंग्रेजी में अनुवाद करके मुझे सुनाने लगा। उसका मर्मार्थ यह था – ब्राह्मण होकर संन्यासी से पैसा लेना बड़ा दोष है, पर क्या करें, कलियुग आ गया है।

मैंने कहा – "यहाँ तो कलियुग इतने दिनों बाद आया है, हमारे प्रान्त में तो जैसे ही श्रीकृष्ण ने धरातल त्याग किया, वैसे ही आ पहुँचा था।" वे बोले – "नहीं, नहीं, स्वामी, मैं कह रहा था कि कलिकाल आया है, इसीलिए संन्यासी को भी पैसा देकर आहार जुटाना पड़ रहा है और ब्राह्मण को बेचना पड़ रहा है – वह देखिए न – अन्नसत्र (घर के सामने ही), सब ताला लगा पड़ा है। हमारे ही समय में पहली बार घर में चूल्हा जला, अन्यथा सभी दोनों समय वहाँ जाकर राजा की ओर ससम्मान भोजन कर आते थे। कोई कष्ट नहीं था, कोई चिन्ता नहीं थी। एक वेदपाठी – चार आने, द्विवेदी – आठ आने, त्रिवेदी – बारह आने और चतुर्वेदी पूरा एक रुपया दक्षिणा पाता था और विशेष पर्वों के समय वस्त्र-आभूषण आदि भी मिलता था। कोई चिन्ता नहीं थी। ज्योंही एक कुलांगार मद्रासी बैरिस्टर दीवान बनकर आया, त्योंही उसने यह अन्नसत्र आदि बन्द करवा दिये। वह कलि को बुला लाया, नहीं तो हम यहाँ सत्युग में – रामराज्य में वास करते थे। जो भी ब्राह्मण, साधु-संन्यासी, आगन्तुक आते, वे सभी इन सत्रों में भोजन और निश्चिन्त होकर भजन करते। वे दिन अब नहीं रहे। और देखिये कलि का प्रभाव – सुबह घर से निकलना तक कठिन है। इस रास्ते से ईसाई लोग मछली पकड़ने जाते हैं, मेहतरानी झाड़ू लेकर रास्ता साफ करती है – बेटी, उस मन्दिर के पास तक जाती है। कितने आश्चर्य की बात है! क्या किया जाय! राजा स्वयं उन ईसाइयों के कहने पर उठते-बैठते हैं, विधर्मियों की युक्तियों पर चलते हैं, बताइये, धर्म भला कैसे रह सकता है? दिन चढ़ने पर गोबर के पानी का छींटा देकर बाहर निकलता हूँ, शौच-स्नान करके आता हूँ। इसीलिए रसोई बनाने में देर होती है और आपको समय पर भोजन नहीं भेज सकता – इस कलि के गये बिना कल्याण नहीं है।" मैंने कहा – "यह आपने सच कहा कि यह कलि ही सब अनिष्टों का मूल कारण है, इसके न जाने तक हमारा कल्याण नहीं है। लेकिन आप लोगों ने तो उसे बहुत देर से – अपने जीवनकाल में ही यहाँ देख रहे

हैं। हमारे मुए प्रान्त में तो वह काफी पहले से ही आ पहुँचा है, जैसा कि मैंने कहा श्रीकृष्ण के प्रस्थान के बाद ही आ पहुँचा है, कभी उधर जाने पर उसका प्रभाव देखेंगे।''

वहाँ के अधिकांश ब्राह्मण आज भी यही मनोवृति रखते हैं। जब तक राजा की ओर से उनके पेट भरने तथा अन्य जरूरतों को पूरा करने की व्यवस्था थी, तब तक सत्युग था और जैसे ही वह बन्द हुई कि कलियुग आ गया। एक-एक धर्म के साँड़ हैं – जब कामिनियों को प्रसन्न करते और चरते हुए घूमा करते थे, तब तो सत्युग था। अब वे भी समझ गये हैं और लोग भी जान गये हैं – निम्न वर्ण के लोगों की भी आँखें खुल गयी हैं और वे लोग इस प्रथा को रद्द कराने के लिए पूरा जोर लगा रहे हैं। काफी हद तक सफल भी हुए हैं और अन्न-चिन्ता इनसे स्वयं ही धर्मत्याग करा रही है।

इसके बाद नागरकोइल जाकर जज पिल्लई महाशय का अतिथि होकर तीन रात रहा और वहाँ से त्रिवेन्द्रम् गया।

त्रिवेन्द्रम् (नेट्टायम्) में

पहले – चिदम्बर नाथ जी (स्वामी निष्कामानन्द) के भाई के घर गया। ये वकील थे। फिर मठ में जाकर आठ-दस दिन रहा। बड़ा सुन्दर स्थान है, मठ का भवन भी सुन्दर है, निर्जन पहाड़ी के ऊपर काफी-कुछ ग्रीक स्टाइल पर बना है। मठ से लौटकर पुन: नाथजी के भाई के पास एक सप्ताह ठहरा। उस समय कोई विशेष पर्व था – राजा स्वयं अपने अधिकारियों के साथ एक वस्त्र धारण किये नंगे-पाँव हाथ में खुली तलवार लिये अपने कुलदेवता पद्मनाभ स्वामी की पालकी के साथ-साथ समुद्र में स्नान करने जा रहे थे।

स्वामी विवेकानन्द की स्मृतियाँ

शोभायात्रा देखते-देखते हम लोग महाराजा के पिता के भवन के सम्मुख जा खड़े हुए। वे भी ऊपर बरामदे में खड़े देवता की शोभा-यात्रा देख रहे थे। मेरा गेरुआ वस्त्र देखकर वे नीचे आये और मुझे बुलवाया। नाथजी के भाई और मैं भीतर गये। वे दीर्घकाय और सुन्दर थे, कन्धे पर चादर और नंगे पाँव – हमारा स्वागत किया और अपने निजी कुटीर में ले गये। वह बगीचे के अन्दर नारियल के पत्तों से बना एक छोटा-सा कमरा था, जिसके अन्दर दूध जैसी सफेद बालू बिछी हुई थी और केवल एक तख्त था, जिस पर बैठकर वे साधना-प्रार्थना आदि किया करते थे। स्वयं बालू पर बैठे और मुझे तख्त पर बिठाया। उसके बाद धर्मचर्चा हुई – योगशास्त्र पर दो-एक साधारण प्रश्न आदि थोड़ी देर चला। उसके बाद पूछने पर जब उन्हें पता चला कि रामकृष्ण संघ का संन्यासी हूँ, तो कह उठे – ''रामकृष्ण को मैंने देखा है, मैं जब बहुत छोटा था, प्रतिदिन पिताजी के साथ समुद्र के किनारे घूमने जाता था। वे साधु-संन्यासियों के भक्त थे। एक दिन सुबह उन्होंने देखा – एक वृक्ष के नीचे सुन्दर आँखोंवाले एक संन्यासी बैठे हुए हैं। उन्होंने जाकर उन्हें साष्टांग प्रणाम किया और उनके साथ शास्त्र-चर्चा करने लगे। उन्हें एक अद्भुत विद्वान् पुरुष देखकर उन्हें अपने घर आने का निमंत्रण दिया। पर वे बोले कि वे गृहस्थों के मकान में नहीं रहते, उनका स्थान बाहर ही है। स्वामीजी जब भिक्षा के लिए भी आने को राजी नहीं हुए, तो वे घर लौटे और फल-दूध आदि लेकर पुन: गये। मैं भी अपने हाथों में कुछ फल ले गया था। बहुत दिनों बाद एक बार उन्होंने हमारे घर में पदार्पण किया था, मुझे अच्छी तरह याद है। पिताजी ने कहा था – 'अद्भुत साधु हैं।' '' मैं चुपचाप सुन रहा था। फिर बोला – ''वे रामकृष्ण नहीं, उनके प्रधान शिष्य स्वामी विवेकानन्द थे। यहाँ आये थे, आपसे थोड़ी भूल हो रही है।''

वे बोले – ''क्या कहा, मुझसे भूल हो रही है? (सीधे तनकर बैठ गये) मैं अपने हाथ से उनके लिए फल ले गया और मुझसे ही भूल हो रही है।'' मैंने देखा कि तर्क के द्वारा वृद्ध का यह भ्रम दूर होना सम्भव नहीं है, बल्कि वे नाराज ही होंगे, अत: बात को थोड़ा घुमाकर मैंने पूछा कि उन्होंने रामकृष्ण तथा विवेकानन्द की जीवनी पढ़ी है क्या? जब उन्होंने कहा – ''नहीं पढ़ी।'' तो मैंने नाथजी के भाई को दिखाकर कहा – ''इनके पास है और ये आपको दे जायेंगे। वह जीवनी बहुत सुन्दर है, पढ़कर आपको आनन्द होगा।'' उनकी भ्रान्ति को सुधारने का इसके सिवाय अन्य कोई उपाय मुझे नहीं सूझा। फिर दो-चार अन्य बातों के बाद यह कहकर कि पुन: आयेंगे, हमने उनसे विदा ली।

इस घटना पर हम दोनों खूब हँसे। नि:सन्देह राजपुरुषों से इस तरह की भूल होना खतरनाक है। ये लोग जो कुछ कहते हैं, उसे सत्य मानना पड़ता है और यदि ये लिखकर रख जायँ कि बचपन में उनकी श्रीरामकृष्ण के साथ मुलाकात हुई थी, तो फिर इतिहास के विद्वान् लोग उसी को लेकर अपना सिर खपायेंगे और उसे बदलना कठिन होगा। श्रीरामकृष्ण कभी दक्षिण नहीं गये, तो भी उन्हें जाना ही पड़ेगा और यदि उनके दक्षिण और विशेषकर केरल में भ्रमण करने का यथार्थ प्रमाण न भी मिले, तो फिर सिद्ध योगी तो ऐसी कृपा करते ही रहते हैं। इसीलिए अवतार-कल्प व्यक्ति के लिए ऐसा करना असम्भव नहीं है। निश्चय ही ये राजा तथा उनके कुल के सभी लोग अत्यन्त भक्त तथा ईश्वरपरायण व्यक्ति थे – उन पर विशेष रूप से कृपा करने के लिए वे दक्षिण में अन्यत्र कहीं न जाकर योगबल से केरल में जाकर दर्शन दे आये थे। यह तो लिखा है, गलत नहीं हो सकता! कौन जाने ऐसी कितनी भूल-भ्रान्तियाँ इतिहास में घुस गयी हैं!

उसके बाद एक और घटना हुई। उन्होंने मुझसे पूछा कि मैंने पद्मनाभ स्वामी का मन्दिर देखा है या नहीं? जब मैंने कहा कि बाहर से ही थोड़ा देखा है, तो बोले – ''नहीं, भीतर

से बड़ा सुन्दर है। अमुक दिन सुबह दर्शन करने जाऊँगा, आप भी आइये, तो दिखाऊँगा। यह मन्दिर हमारे पूर्वजों ने बनवाया था। एक बार यहाँ भीषण अकाल पड़ा था, तब उस सरोवर तथा मन्दिर का निर्माण हुआ था।'' नियत दिन सुबह गया, वे मेरी प्रतीक्षा कर रहे थे। पहले मन्दिर में देव-दर्शन को गये। मैं मन्दिर के द्वार तक पहुँच गया और देखा – वे ७-८ हाथ दूर खड़े हैं। मैंने कहा – ''पास आइये न!'' सुनते ही उनका चेहरा लाल हो गया और वहीं खड़े रहे। पुजारी ने उनकी ओर एक बार देखा – ''कपूर जलाऊँ, दर्शन करेंगे?'' भगवान नारायण – पद्मनाभ स्वामी अनन्त शैय्या पर लेटे हुए हैं। सुन्दर विशाल कसौटी पत्थर की मूर्ति थी। अन्य स्थानों की भाँति यहाँ भी मन्दिर के भीतर अँधेरा था, दीप जले बिना कुछ भी नहीं दीखता था। ऐसा करने का उद्देश्य शायद (१) ऐश्वर्य को गुप्त रखना है, (२) दर्शनार्थी भक्तों के मन में एक राजसी भाव पैदा करती है, जिससे उनमें भय के साथ श्रद्धा-भक्ति बढ़ती रहे। स्पष्ट दर्शन से भय तथा भक्ति दोनों ही जा सकते हैं, उसी मानसिक अवस्था से बचाने के लिये शायद यह व्यवस्था है। इसके बाद वे मन्दिर का निर्माण-कौशल तथा नक्कासी आदि दिखाने लगे। मन्दिर के सामने स्थित नाट्य-मन्दिर का फर्श, जिस पर खड़े होकर दर्शन किया जाता है, एक ही विशाल पत्थर टुकड़ा है। शायद एक-डेढ़ फुट मोटा और ३०-४० हाथ लम्बा-चौड़ा होगा। यह सोचकर बड़ा आश्चर्य होता है कि उस पत्थर को वहाँ कैसे लाया गया होगा। ऊपर की छत भी वैसे ही एक ही पत्थर की है। उन्होंने कहा – हाथी की सहायता से यह सब लाया गया है। अन्य सब दर्शनीय चीजें भी दिखायीं।

मैं उनसे यह पूछने का मौका ढूँढ़ रहा था कि वे मन्दिर के द्वार तक न जाकर दूर क्यों खड़े रह गये? मुझे मालूम था कि शूद्रों को पास जाने का अधिकार नहीं था, परन्तु वे तो राजकुल के व्यक्ति थे और क्षत्रिय के रूप में अपना परिचय देते थे। मौका मिलते ही मैं बोला – ''क्षमा कीजिये, एक बात पूछना चाहता हूँ।'' – ''हाँ, हाँ, कहिये, कहिये।'' – ''आप दर्शन के समय इस प्रकार दूर क्यों खड़े रहे? और मेरे बुलाते ही मानो ...।'' – ''आप जानते नहीं? हम लोगों को पास तक जाने का अधिकार नहीं है, बल्कि जितना अधिकार है, उससे भी ज्यादा दूर आपके साथ बात करते हुए चला गया था, ध्यान नहीं रहा।'' मैंने कहा – ''क्या कहते हैं आप? आप राजकुल के हैं। मन्दिर आप लोगों द्वारा ही निर्मित है और आपको द्वार तक जाने का अधिकार नहीं है! किसने आपको इस अधिकार से वंचित किया है? आप लोगों ने स्वयं ही अपने को इतना हीन क्यों बना लिया है?''

वे बड़े संकुचित से होने लगे और लगा कि किसी तरह मैं चुप हो जाऊँ, तो उनके प्राण बचें। मैं कहता रहा – ''न केवल आप लोगों को ही इस अधिकार से वंचित किया है, बल्कि लाखों अब्राह्मणों को भी वंचित किया है? आप लोगों की ऐसी दुर्बलता का कोई कारण मेरी समझ में नहीं आता।'' वे हकलाते हुए किसी प्रकार बचने का प्रयास कर रहे थे –यह देखकर मैंने और कुछ नहीं कहा।

राजकुल के दो अन्य युवक मेरी बात सुनकर उत्तेजित हो उठे और यह निश्चित हुआ कि अगले दिन वे मेरे साथ मन्दिर के द्वार तक दर्शन करने जायेंगे। वृद्ध ने मुझे साथ जाने से मना करते हुए कहा कि वे स्वयं उन्हें ले जायेंगे। अगले दिन मैं मन्दिर के बाहर उपस्थित था और वे द्वार तक चले गये। पुजारी ने देखकर भी कुछ कहा नहीं, शायद समझ गया कि इससे झंझट कम नहीं होगा, बल्कि बढ़ सकता है। इस प्रकार आसानी से ही अन्याय का प्रतिकार हो गया। वहाँ का सरोवर आदि देखने के बाद मैंने उन लोगों से विदा ली।

अलेप्पी और तिरुबल्लभ

वहाँ से जनार्दन गया। स्थान सचमुच मनोरम था। समुद्र के किनारे एक झरना है, पहाड़ और जंगल है। एक ब्राह्मण पण्डे ने प्रेमपूर्वक सब दिखाया और भिक्षा भी दी। ये अवध के रहनेवाले थे। वहाँ से अलेप्पी के आश्रम में गया। वहाँ स्वामी निरंजनानन्द मेरी प्रतीक्षा कर रहे थे। मुझे साथ लेकर केरल के कुछ केन्द्रों में जाने की बात थी। मोटर-बोट रुके हुए जल (Back-waters) से होकर, छोटे-छोटे कृत्रिम द्वीपों पर नारियल के उद्यानों के बीच से जा रहा था, तो ऐसा लुभावना लग रहा था, जिसका वर्णन नहीं किया जा सकता। सर्वत्र केवल नारियल ही नारियल! स्वच्छ तथा शान्त जल। समुद्र के साथ जुड़े होने पर भी उनमें लहरें नहीं थीं, बीच- बीच में धान के खेत थे, पम्प से पानी निकालकर खेती होती है। सुन्दर मलाबार सचमुच ही मनोरम है! मनमोहक है!

नारियल के उद्यान के बीच छोटा-सा आश्रम है। अलेप्पी एक पुराना प्रसिद्ध बन्दरगाह है। यहाँ अरब के मोपला बहुत हैं। बंगाल के चटगाँव जैसे ही यहाँ के करीब सभी माझी-मल्लाह अरबी मुसलमान हैं। पानी बहुत खराब है। फिलेरियासिस (हाथीपाँव) रोग बहुत होता है, इसलिए स्नान-पान आदि सब गरम जल से किया जाता है। मैं वैसा न कर सका, अत: गरम पानी को ठण्डा करके नहाता और कॉफी पीता। और ठण्डे में नारियल का जल पीता। नारियल के पेड़ ही यहाँ की सम्पदा हैं। ताड़ी बनाने के लिये देने पर हर पेड़ से साल में करीब दस रुपये आय होती है। आश्रम नारियल की बिक्री के धन से ही चलता है। दो साधु आराम से रह सकते हैं। यहाँ नाम्बियार के आने के बाद हम तीनों हरीपद-तीरुवल्लभ तथा और तीन-चार जगह घूमने गये।

तीरुवल्लभ में वागीश्वरानन्द हमारे साथ हो गये। आश्रम में एक घटना हुई, जिसे मैं मनोवैज्ञानिकों के लिए एक

अमूल्य तथ्य समझता हूँ। निरंजनानन्द तथा वागीश्वरानन्द मुझे छोड़कर कहीं गये। कुछ दिनों बाद उनसे फिर एक जगह मिलने की बात थी। एक दिन शाम को एक स्थानीय मित्र श्री शेष अय्यर अपने वृद्ध पिता को साथ लेकर आये कि मेरे साथ परिचय करायेंगे और हमारे बँगला में बातें करने पर वे सुनेंगे। शेष अय्यर ने स्व-चेष्टा से ही बँगला सीखी थी और श्रीरामकृष्ण तथा स्वामीजी की करीब सभी पुस्तकों का बँगला से अपनी भाषा में अनुवाद भी किया था। लिखने की शुद्ध भाषा बोलने पर वे समझ लेते थे, पर बोलचाल की भाषा नहीं समझते थे। मन्दिर के बगल में स्थित बैठके में बैठकर बातें हो रही थीं। बीच में मेज के जैसा एक ऊँचा लम्बा बेंच था और दोनों ओर बैठने की नीची बेंचें थीं। एक ओर मैं तथा शेष अय्यर और सामने उनके पिता बैठे। बँगला भाषा में बातें हो रही थीं – श्रीरामकृष्ण, स्वामीजी तथा अन्य महाराजों के बारे में। संध्या को ठाकुर की आरती हुई। वृद्ध को खूब आनन्द आ रहा था। उठने का नाम ही नहीं ले रहे थे। आरती के बाद एक ब्रह्मचारी ने चरणामृत लाकर मुझे दिया, शेष अय्यर को दिया और उधर से ही हाथ बढ़ाकर वृद्ध को भी देने लगे। हम देख रहे थे वृद्ध का मुँह तथा आँखें लाल हो गई थीं। बायें हाथ से दायें हाथ की कलाई पकड़कर खूब जोर लगाकर उन्होंने अपना हाथ बढ़ाया। हाथ थर-थर काँप रहा था। चरणामृत लेकर वे उसे धीरे-धीरे मुँह के पास ले जा रहे थे, हम निर्वाक् होकर देख रहे थे। मुँह से लगाया और – "गिरे-गिरे, पकड़ो-पकड़ो !" वे बेहोश होकर गिर रहे थे, उन्हें पकड़ लिया गया। मैं उन्हें पकड़कर बाहर बरामदे की खुली हवा में ले गया। मुँह तथा आँखों पर पानी के छींटे दिये गये और हवा आदि करते-करते करीब १५-२० मिनट बाद उन्हें होश आया। अत्यन्त लज्जित होकर वे स्वयं ही धीरे-धीरे बोले – "आज मेरा जीवन धन्य हो गया। जीवन में यह पहली बार ... आपके कारण ही ऐसा सौभाग्य हुआ।" और अश्रुधारा बहकर उनकी छाती भिगोने लगी। मैंने कहा – "बातें बाद में होंगी, अभी थोड़ा विश्राम कीजिये।" उनको मकान छोड़कर शेष अय्यर पुन: मेरे पास लौट आये और अपने पिता के बारे में कई बातें कहीं।

पहले वे रामकृष्ण संघ के बहुत विरोधी थे, क्योंकि वहाँ जाति-पाँति का विचार नहीं करते, हर किसी के हाथों का खाते हैं, सबको समान अधिकार देते हैं। शेष अय्यर को मना करने पर भी, उनके आश्रम में आते-जाते रहने पर वे इतने क्रोधित हुए कि उन्हें घर लौटने पर स्नान करके कपड़े बदलना पड़ता था और बाद में उन्हें घर के अन्दर आने से मना कर दिया। शेष अय्यर को बहुत दिनों तक बाहर के कमरे में ही रहना और दूर से केले के पत्ते पर आहार दिया हुआ लेना पड़ा था। पर इस विषय में उन्होंने कभी अपने माता-पिता या भाई-बहन से विवाद नहीं किया। केवल इतना ही कहते कि उसी में उनकी श्रद्धा-विश्वास है और अपनी बुद्धि तथा विचार से वे उसे ही सत्य समझते हैं। कभी-कभी अपने पिता को अनुवाद करके पढ़कर सुनाते। इस तरह कुछ वर्ष तक चला था, फिर उनके पिता की श्रीरामकृष्ण के प्रति श्रद्धा होने लगी, लेकिन जाति-पांति न मानना उन्हें पसन्द नहीं था, इसीलिए उन्हें आश्रम में आने-जाने की छूट देते हुए भी, स्नान करके घर में प्रवेश करना पड़ता था और आश्रम में भोजन आदि करने की कभी अनुमति नहीं मिली। इतने वर्षों बाद आपको (मुझको) देखने और बँगला भाषा सुनने के लिए आश्रम में पहली बार उन्होंने पर्दापण किया था। वे चरणामृत ग्रहण करेंगे और वह भी अब्राह्मण के हाथों से – यह अकल्पनीय था। कितनी आश्चर्य की बात है !

मैंने कहा – इसीलिए शायद उन को इतना संघर्ष करना पड़ा। भीतर का संस्कार उन्हें रोक रहा था और वे बलपूर्वक वह बाधा हटा रहे थे। बहुत दिनों के बचपन से दृढ़ीभूत संस्कार की बाधा को अतिक्रम करने में इतना परिश्रम – मानसिक संघर्ष हुआ था, जिसके कारण वे बेहोश हो गये।

शेष अय्यर बोले – "परन्तु सारे रास्ते और घर पहुँचकर भी वे एक ही बात कहते रहे कि आज जीवन धन्य हुआ।"

हरिपाद और तिरुवल्ला

हरिपाद से दो-तीन स्थान होते हुए हम तिरुवल्ला गये। पास के एक गाँव में वागीश्वरानन्द की वक्तृता हुई। मुझे साथ ले गये थे, क्योंकि वहाँ एक स्कूल-मास्टर स्वरचित संगीतमय श्रीरामकृष्ण-लीलामृत का अभिनय करनेवाले थे। उन्होंने सब कुछ अकेले ही किया। वैसे निरंजनानन्द बीच-बीच में व्याख्या कर रहे थे। बड़ा ही सुन्दर हुआ था। जिस प्रांगण में यह हो रहा था, वहाँ अनेक कलवारों के आने कारण ब्राह्मण प्रांगण के बाहर खड़े होकर सुन रहे थे, दीवार नीची होने के कारण देखने में असुविधा नहीं हो रही थी। पर कितना सुन पा रहे थे, कहना कठिन था ! दूर खड़े हैं, उनके पीछे पड़ने से क्या लाभ? – इस भाव से यह नहीं किया गया था। इस टोली में से यदि कोई उठकर देखने जाता, तो शायद स्पर्श-अस्पर्श की बात उठती; 'एजवा' – कलवार लोग वहाँ अस्पृश्य थे। अभिनय तथा व्याख्या अच्छी हो रही थी। इसका प्रमाण था कि करीब दो सौ लोग तीन घण्टे चुपचाप खड़े-खड़े सुनते रहे। भीतर पाँच-सात सौ लोग चुपचाप बैठे थे। पूर्ण शान्ति छाई हुई थी। वागीश्वरानन्द ने अपने व्याख्यान में सामाजिक प्रश्न भी उठाया था और उच्च वर्णों पर काफी आक्रमण किया था। वे स्वयं भी उच्चवर्णीय थे।

❖ (क्रमश:) ❖

खेतड़ी में तीन सप्ताह

स्वामी विदेहात्मानन्द

(अब तक आपने पढ़ा कि कैसे १८९१ ई. में स्वामी विवेकानन्द जी ने उत्तरी-पश्चिमी भारत का भ्रमण करते हुए राजस्थान में भी काफी काल बिताया था । उस समय वे वहाँ के अनेक लोगों – विशेषकर खेतड़ी-नरेश राजा अजीत सिंह के घनिष्ठ सम्पर्क में आये । तदुपरान्त वे कन्याकुमारी तथा मद्रास पहुँचे और वहाँ से अमेरिका जाने की तैयारी करने लगे । बाद में उनकी अमेरिका-यात्रा और सम्पूर्ण जीवन-कार्य में राजस्थान और विशेषकर खेतड़ी-नरेश का क्या स्थान तथा योगदान रहा – क्रमश: इन सभी विषयों पर सविस्तार चर्चा होगी । – सं.)

जगमोहन लाल के नाम राजा का पत्र

आबूरोड में अपने दो गुरुभाइयों को छोड़ते हुए स्वामीजी जगमोहन लाल के साथ जयपुर तथा रेवाड़ी होते हुए २१ अप्रैल को खेतड़ी पहुँचे । रेवाड़ी में राजा का एक पत्र उनकी प्रतीक्षा कर रहा था। अपने सुदीर्घ मद्रास-प्रवास के दौरान मुंशीजी ने राजासाहब के नाम कई पत्र भेजे थे, जिनमें से अब एक भी प्राप्त नहीं है । सौभाग्यवश राजाजी द्वारा मुंशीजी को लिखित एक पत्र की हस्तलिखित प्रति हमें प्राप्त हुई थी (द्र. पिछला जनवरी अंक) । लगता है अप्रैल के आरम्भ में मद्रास से प्रस्थान करने के पूर्व मुंशी जगमोहन लाल ने एक पत्र लिखकर राजा को सारी वस्तुस्थिति सूचित की थी और यह पत्र सम्भवत: उसी का उत्तर है । इस पत्र से पता चलता है कि स्वामीजी की यूरोप-अमेरिका-यात्रा के धन-संग्रह का कार्य मद्रास में तब भी चल रहा था और पूरा किराया न जुट सके, तो वे अफगानिस्तान के रास्ते पैदल भी जाने को तैयार थे । उस पत्र का हिन्दी अनुवाद इस प्रकार है –

११-४-१८९३

प्रिय जगमोहन,

आज सुबह आपका सुविस्तृत पत्र मिला । इस पत्र को पढ़कर मैंने जो निष्कर्ष निकाले हैं, वे इस प्रकार हैं – (१) स्वामीजी एक ऐसे व्यक्ति के वचन पर निर्भर रहे, जिन्हें बहुत भला आदमी नहीं कहा जा सकता । (२) रामनाद के राजा अपना वचन पूरा करने से हिचक रहे हैं । (३) जब आप हमारे राज्य के लोगों के बारे में और हमारे पवित्र स्वामीजी के विषय में उनके भविष्य के दृष्टिकोण के विषय में सोचते हैं, तो आपको सन्देह होता है कि हम शायद (उनके लिए) कम-से-कम ३०००/- रुपये व्यय करने के लिए राजी नहीं हो सकेंगे । (४) स्वामीजी के भक्तगण उनकी यात्रा के लिए धन एकत्र कर रहे हैं । (५) स्वामीजी शायद अफगानिस्तान के रास्ते पैदल ही जायेंगे – आदि जो आपने लिखा है, इससे लगता है कि चन्दे द्वारा वहाँ पर धन एकत्र करने की सफलता में आपको पूरा विश्वास नहीं है । (६) स्वामीजी सचमुच ही यूरोप जाने के इच्छुक हैं । (७) आपको स्वामीजी के लिए लू या गरम हवाओं की आशंका है । (८) आप स्वयं को बड़ी कठिन परिस्थिति में पा रहे हैं ।

अच्छा, तो कुछ अन्य समाचारों में से ये ही सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण सूचनाएँ हैं । अब मैं अधिक कुछ नहीं, जितना आवश्यक है उतना ही लिखूँगा । मैं हार्दिक रूप से स्वामीजी के यूरोप जाने के विचार से सहमत हूँ, जहाँ उनका उद्देश्य इतना महान् है । मुझे इस विषय में कभी स्वार्थी नहीं होना चाहिए, बल्कि जिन्हें अपना गुरु कहकर मैं सौभाग्य तथा गर्व का अनुभव करता हूँ, यदि जगत् उनसे कुछ लाभ अर्जित कर सके, तो मैं सन्तुष्ट तथा प्रसन्न ही होऊँगा । उनके लिए रुपये देने में एकमात्र बाधा वही है, जो आपने सोचा है । अर्थात् हमारे लोग क्या कहेंगे, परन्तु मेरे मन में एक अन्य विचार आया है और वह यह है कि हुकुम खर्च से आवश्यक धन लेना आसान है, वैसे वे लोग चाहे जो सोचें । हम तो सर्वदा यह सोचकर आनन्द का अनुभव करेंगे कि इतने रुपये इतने सुन्दर योजना पर खर्च हुए; फिर वे लोग जो चाहें कहते रहें । लोग जब जानेंगे कि यह धन केवल भोजन तथा यात्रा-व्यय हेतु है, तो फिर उन्हें बातें क्यों करनी चाहिए ।

उस दिन मैं यहीं तक लिख सका था । शुक्रवार को मुझे आपके दो तार मिले और उसके बाद मुझे वह पत्र मिला, जिसमें आपने मुझे रुपयों के विषय में थोड़े स्पष्ट रूप से बताया है । आपने कई पत्र भेजे, परन्तु अपने आने में विलम्ब के विषय में मुझे सर्वदा अँधेरे में रखा । अब मेरी समझ में आया है कि उसका एकमात्र कारण धन के अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं है । यदि आपने यह बात पहले ही समझा दी होती, तो मैंने अब से बहुत पहले ही सारी व्यवस्था कर दी होती । मैं यह सोचकर आपको नहीं लिख सका कि मेरे पत्र समय पर नहीं पहुँच सकेंगे, क्योंकि आप अपने प्राय: हर पत्र में (मद्रास से) शीघ्र लौटने की बात

लिखते रहे । आपके द्वारा इतना समय व्यर्थ ही गँवा देना अत्यन्त अविवेकपूर्ण रहा । अब मुझे पूरा विश्वास है कि स्वामीजी को यहाँ काफी गर्मी लगेगी । यहाँ आये हुए तथा शीघ्र ही आनेवाले मेहमानों के लिए सारी व्यवस्था देखने के कारण आजकल मैं भी बड़ा अन्यमनस्क हो गया हूँ । सीकर के रावराजा साहब यहाँ इस महीने की ८ तारीख से हैं और ... को प्रस्थान करेंगे । वे अपने अनुचरों के रूप में ११०० लोगों को लाये हैं ।

शिशु भी पिछले १० दिनों से अस्वस्थ है, यह बात भी मन को निश्चिन्त नहीं रहने देती । इसलिए प्रतिदिन बढ़ती हुई गर्मी के बीच, देश के इतने छोटे-से निर्जन पहाड़ी स्थान में इतनी सारी बातों का ध्यान रखना है । ठीक है, मुझे ऐसी व्यर्थ की बातें ज्यादा नहीं लिखनी चाहिए ।

मैं यह पत्र उन लोगों के हाथों में दे रहा हूँ, जो सवारियों के साथ रेवाड़ी जा रहे हैं, जहाँ से आपको प्रस्थान करना है । अभी-अभी मैंने आपको यह बताते हुए एक तार लिखा था कि 'यदि स्वामीजी को ज्यादा गर्मी महसूस हो रही हो, तो उनके यहाँ आने पर ज्यादा जोर मत दीजिएगा ।'

मुझे खेद है कि इस समय मेरे पास समय नहीं है, परन्तु मुख्य बात यह है कि धन की जरा भी परवाह मत कीजिए । मैं उसकी व्यवस्था करूँगा और इससे कभी पीछे नहीं हटूँगा । दूसरी बात यह कि यदि यहाँ आना स्वामीजी को कष्टप्रद लगे, तो उनसे यहाँ आने की जिद मत कीजिएगा ।

आपका विश्वस्त, अजीत सिंह

मुंशी जगमोहन लाल, रेवाड़ी[1]

रेवाड़ी के पते पर लिखे गये उपरोक्त पत्र से अनुमान होता है कि वे लोग १५ अप्रैल के करीब रेवाड़ी पहुँचे और वहाँ से कुछ दिन यात्रा करके २१ अप्रैल को खेतड़ी पहुँचे होंगे । उन दिनों खेतड़ी आने के लिए रेवाड़ी रेल्वे स्टेशन पर उतरना पड़ता था । परन्तु अभी तो मुम्बई का प्रसंग चल रहा है । रेवाड़ी होते हुए खेतड़ी-यात्रा का प्रसंग आगे आयेगा ।

१. 'राजस्थान में स्वामी विवेकानन्द', पंडित झाबरमल्ल शर्मा तथा श्यामसुन्दर शर्मा, खण्ड दो, पृ. १०२, १९९; Swami Vivekananda : A Forgotten Chapter of His Life, Second Edition 1982, p. 71-3; Photocopy of this letter is printed in 'A Pilgrimage to Khetri & The Saraswati Valley, by Dr. Arun Kumar Biswas, 1987

पुत्रोत्सव का आयोजन

एक महीने बाद राजाजी सपरिवार आगरे से खेतड़ी पधारे और राजकुमार के जन्म का महोत्सव विशेष रूप से मनाने का आयोजन किया गया । शेखावाटी में कभी ऐसा समारोह दृष्टिगत नहीं हुआ था । राजा अजीतसिंह जी ने उस समय अपना खजाना ही खोल दिया था । उस अवसर पर सीकर, नवलगढ़, मंडावा, बिसाऊ, सूरजगढ़, मलसीसर, अलसीसर आदि रियासतों के प्राय: सभी प्रमुख शेखावत सरदारों का दल-बल के साथ आगमन हुआ था । स्वनामधन्य स्वामी विवेकानन्द जी, महाराजा कर्नल सर प्रतापसिंह जी, नरसिंहगढ़ (मध्य भारत) के महाराज महताबसिंह जी, रामपुर के नवाब हमीदअली खाँ और लुहारू के नवाब अमीरुद्दीन जी जैसे मेहमानों ने खेतड़ी में पदार्पण कर उस स्मरणीय महोत्सव की शोभा बढ़ायी थी । विद्वानों, संगीतज्ञों, कवियों तथा अन्य याचकों का भी जमाव हुआ था । सभी यथोचित पुरस्कृत हुए थे । वृद्ध चारणों द्वारा उस समय बनाये हुए गीत शेखावाटी में अब तक गाये जाते हैं । इस अवसर पर राजा साहब ने बहुत-से कैदियों को मुक्त कर दिया और किसानों का एक लाख से भी ऊपर का बकाया लगान माफ कर दिया ।[2]

चेन्नै (मद्रास) से पत्र[3]

स्वामीजी के खेतड़ी-निवास के दौरान उनके मद्रास के भक्तों ने स्वामीजी को कुछ पत्र लिखे होंगे । उनमें से कोई भी उपलब्ध नहीं हैं । केवल एक मुंशीजी के नाम मिलता है –

एकाउंटेंट जनरल का कार्यालय
फोर्ट सेंट जार्ज (मद्रास)

प्रिय जगमोहन जी, १३ अप्रैल, '९३

मुझे आशा है कि पूज्यपाद स्वामीजी तथा अपने सेवकों के साथ आप सुरक्षित रूप से खेतड़ी पहुँच गये होंगे । कृपया स्वामीजी को मेरा साष्टांग प्रणाम ज्ञापित करें । हमारे सभी मित्र सकुशल हैं । हम सभी को स्वामीजी का अभाव बड़ा खलता है, परन्तु यह सोचकर हमें आनन्द होता है कि स्वामीजी अपनी विश्व-भ्रमण की यात्रा के बाद हमारे बीच लौट आयेंगे ।

हमारे सभी मित्रों का स्वामीजी को नमस्कार ।

आशा है आप सभी स्वस्थ होंगे ।

आपका विश्वस्त, वी. राघवाचारियार

पु. चेहरे से त्रिवेन्द्रम् के श्री सुन्दरम् अय्यर से सादृश्य रखनेवाले के रूप में स्वामीजी मुझे पहचानते हैं ।

स्वामीजी का खेतड़ी में स्वागत

स्वामीजी के बाल्यबन्धु तथा शिष्य श्री प्रियनाथ सिन्हा ने सम्भवत: मुंशी जगमोहनलाल से सुनकर स्वामीजी के खेतड़ी पहुँचने का विवरण निम्नलिखित शब्दों में लिपिबद्ध किया था – रात के नौ बजे थे । खेतड़ी के राजप्रसाद में बड़ी धूम मची हुई थी । प्रासाद के भीतर एक सुसज्जित तालाब में

फूल-फल-मणि-मुक्ताओं से अलंकृत एक नौका में महाराजा आसीन थे। चारों ओर संगीत की सुर-लहरी फैली हुई थी। मंत्रियों से घिरे राजपुताना के राजागण उपयुक्त आसनों पर बैठे हुए थे। तीन-चार दिनों पूर्व उत्सव आरम्भ हुआ था। अनेक राजा अपने-अपने स्थानों को लौट चुके थे। परन्तु अब भी सब कुछ अपूर्व शोभा से शोभित था और आनन्द का स्रोत प्रवाहित हो रहा था। तभी जगमोहन लाल स्वामीजी को लिये उपस्थित हुए। महाराजा ने उन्हें देखते ही अविलम्ब आकर सबके सामने ही उन्हें साष्टांग प्रणाम किया। स्वामीजी ने हाथ पकड़कर उन्हें उठाया और उपयुक्त आसन पर बिठाकर उनके साथ विविध विषयों पर बातें करने लगे। राजासाहब ने वहाँ उपस्थित अन्य सभी लोगों के साथ स्वामीजी का परिचय कराया और अमेरिका जाकर शिकागो के धर्म-सम्मेलन में सनातन धर्म के गूढ़ तत्त्वों को समझाने के उनके संकल्प पर उन्हें हार्दिक धन्यवाद देने लगे।"[४]

इसके बाद प्रस्तुत है – खेतड़ी के राजकीय वाक्यात रजिस्टर का विवरण, जो तिथिवार इस प्रकार है –

२१ अप्रैल, १८९३ (शुक्रवार)

श्री अन्नदाता जी महाराज सरदार लोगों के साथ (तालाब की) पूरब की सीढ़ियों पर बैठे थे। उन्होंने सरदार लोगों को नाव में बैठकर सैर करने को कहा। अत: वे लोग नाव में बैठकर सैर करते रहे। नाव तख्तों की बनवाई गयी थी। इसके बाद आप भी नाव में विराज गये और सरदारों को सैर कराते रहे। नाव में बाइयों का नाच होता रहा। नाव में मेहताब (एक तरह की आतिशबाजी) जलती रही।

मुंशी जगमोहन लालजी स्वामी विवेकानन्दजी को लाने गये थे, सो उन्हें लेकर आये। नाव में ही सूचना मिली, अत: उन्हें वहीं लाया गया। मुंशीजी ने २ रुपये नजर किये और श्रीजी (महाराज) ने २५ रुपये भेंट किये। उन्हें भी नाव में बैठा लिया गया। १० बजे नाव से उतरकर तालाब के बाहर पधारे। इसके बाद सरदार लोग विदा हुए। आप, बैरीसाल जी, नवलगढ़ के कुँवर नारायणसिंह जी, स्वामीजी और जगमोहन जी हाथियों पर सवार होकर **बाग में** पधारकर **बगीची में** हाथियों से उतरे। बैरीसाल जी और नारायणसिंह जी विदा ले कर डेरे चले गये। आप और स्वामीजी **छबि-निवास** के सामने (दीवानखाने की छत पर) विराजे। बातें होती रही। ११ बजे भोजन हुआ। स्वामीजी ने भी वहीं भोजन किया। १२ बजे आराम फरमाया।

२२ अप्रैल, १८९३ (शनिवार)

१० बजे श्रीहुजूर **आसमानी महल**[५] में स्वामीजी के पास पधारे। १२ बजे भोजन किया। स्वामीजी से बातें होती रहीं।

२६ अप्रैल, १८९३ (बुधवार)

हाथी-घोड़े मौजूद थे, सो एक हाथी पर श्री हुजूर तथा नवाब साहब सवार हुए, दूसरे पर जमीरुद्दीन खाँ जी तथा रीधजी बैठे और तीसरे पर जगमोहन लाल जी तथा स्वामी विवेकानन्द जी बैठे।

२७ अप्रैल, १८९३ (गुरुवार)

९ बजे रात को छबि-निवास के सामने विराजे। स्वामीजी से बातें होती रहीं। ११ बजे भोजन हुआ।

५ मई, १८९३ (शुक्रवार)

स्वामी विवेकानन्द जी से बातें होती रहीं। ११ बजे भोजन हुआ। आराम फरमाया।

७ मई, १८९३ (रविवार)

११ बजे भोजन हुआ। विराजे। मुसाहब तथा कामदारगण आये। रियासती कामकाज की बातें होती रहीं। २ बजे वे लोग चले गये और स्वामी विवेकानन्दजी से बातें होती रहीं।

९ मई, १८९३ (मंगलवार)

महाराज स्वामी विवेकानन्द जी को **ड्योढ़ी**[६] में कुमार[७] के पास ले गये। थोड़ी देर बाद वापस पधारकर बैठे। ... स्वामीजी से बातें होती रहीं।

१० मई, १८९३ (बुधवार)

बड़े सबेरे उठ गये। स्वामी विवेकानन्द जी आज जाने वाले थे। उनके पास पधारे। वहाँ से स्वामीजी को साथ लेकर बगीचे में पधारे। उन्हें पालकी में बैठाया और मुंशी जगमोहन लाल जी को साथ बम्बई जाने का आदेश दिया।

अलवर से आये भक्त

स्वामीजी पुन: खेतड़ी आ रहे हैं – (सम्भवत: स्वामीजी के ही पत्र से) यह सूचना पाकर अलवर से भी उनके कोई

---

२. आदर्श नरेश, पं. झाबरमल्ल शर्मा, पृ. ३०१-०३

३. खेतड़ी-पेपर्स १९९९

४. 'उद्बोधन' (बँगला पाक्षिक), वर्ष ७, अंक १४, १ भाद्र १३१२ बं. तथा हिन्दी अनुवाद विवेक-ज्योति, १९९३, अंक २, पृ. ४५-४६

५. खेतड़ी में इस बार स्वामीजी आसमानी महल में ठहरे थे। यह महल कौन सा है – इसका अभी तक निर्धारण नहीं हो सका है।

६. जनानी ड्योढ़ी या रानी-महल, जो अब वहाँ के रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द स्मृति मन्दिर का एक अंश है।

७. राजकुमार जयसिंह (१८९३-१९१०) के जीवन की मुख्य घटनाएँ इस प्रकार हैं – जन्म २७ जनवरी १८९३ को, राजगद्दी ३० जनवरी १९०१ को और मृत्यु ३० मार्च १९१० को हुई। (आदर्श नरेश, पं. झाबरमल्ल शर्मा, पृ. ३०१, ३३५; तथा 'युगदिशारी विवेकानन्द' बँगला ग्रन्थ, उद्बोधन कार्यालय, कोलकाता, सं. २००१, पृ. ३३४)

कोई भक्त या शिष्य उनसे मिलने वहाँ उपस्थित हुए थे, ऐसा संकेत मिलता है स्वामीजी के एक पत्र से । १८९४ ई. में शिकागो से अलवर के लाला गोविन्द सहाय को अपने पत्र में स्वामीजी ने लिखा है – "एक वर्ष से भी अधिक काल पूर्व तुम्हारे बारे में आखिरी बार खेतड़ी में सुना था ।"[८]

खेतड़ी से स्वामीजी के पत्र

तीन सप्ताह के अपने खेतड़ी-प्रवास के दौरान स्वामीजी ने वहाँ से कुछ पत्र तथा टेलिग्राम भी लिखे थे, विशेषकर अपने मद्रास के शिष्यों तथा अनुरागियों को, जिनसे उनका तत्कालीन भाव तथा वस्तुस्थिति व्यक्त होती है । तीन उपलब्ध पत्रों के हिन्दी अनुवाद इस प्रकार हैं –

खेतड़ी, राजपूताना,
२७ अप्रैल, १८९३

प्रिय डॉक्टर, (डॉ. नंजुन्दा राव)

अभी आपका पत्र मिला । मुझ अयोग्य पर प्रीति के लिए मैं आपका विशेष कृतज्ञ हूँ । बेचारे बालाजी के पुत्र के देहान्त का समाचार सुनकर मुझे अत्यन्त दु:ख हुआ । "प्रभु ने ही दिया और प्रभु ने ही वापस ले लिया; धन्य हो प्रभु का नाम ।"* हम तो केवल इतना ही जानते हैं कि न तो कुछ नष्ट होता है और न हो सकता है । हमें पूर्ण शान्ति के साथ उनकी ओर से जो भी कुछ मिले, नतमस्तक होकर उसे स्वीकार करना चाहिए । सेनापति यदि अपने अधीनस्थ सिपाही से तोप के मुँह में जाने के लिए कहे, तो इस पर किसी तरह की आपत्ति या उस आदेश की जरा भी अवहेलना करने का उसे कोई अधिकार नहीं । इस शोक में प्रभु बालाजी को सांत्वना प्रदान करें और यह शोक उसको उस परम करुणामयी जगदम्बा के वक्षस्थल के निकट से निकटतर ले जाय ।

कहाँ से जहाज पर सवार होऊँ – इस विषय में मेरा वक्तव्य यह है कि मैंने पहले ही बम्बई से जाने की व्यवस्था कर ली है । भट्टाचार्य महोदय से कहना कि राजा साहब (खेतड़ी-नरेश) अथवा मेरे गुरुभाइयों की ओर से मेरे संकल्प में किसी प्रकार की बाधा पहुँचाने की कोई भी सम्भावना नहीं है । मेरे प्रति राजाजी का अगाध प्रेम है ।

और एक बात – ...चेट्टी का उत्तर गलत सिद्ध हुआ है । मैं कुशलपूर्वक हूँ । दो-एक सप्ताह के भीतर ही मैं मुम्बई के लिये प्रस्थान कर रहा हूँ ।

सर्व-शुभ-विधाता आप लोगों का ऐहिक तथा पारलौकिक मंगल करें – यही सच्चिदानन्द की निरन्तर प्रार्थना है ।

पुनश्च: – जगमोहन से मैंने आपका नमस्कार कहा है । वे भी मुझसे आपको नमस्कार लिखने के लिए कह रहे हैं ।

मुम्बई से खेतड़ी आते समय स्वामीजी मार्ग में पड़नेवाले जूनागढ़ के दीवान हरिदास विहारीदास देसाई के गृह-नगर नडियाद में नहीं उतर सके थे । इस पर उनके खेद व्यक्त करने पर स्वामीजी अपनी व्यंग्यपूर्ण भाषा में इसका कारण बताते हुए, लौटते समय उनसे मिलने का वचन देते हैं —

खेतड़ी, २८ अप्रैल, १८९३

प्रिय दीवानजी साहब, (श्रीयुत हरिदास बिहारीदास देसाई)

यहाँ आते समय मैं आपके स्थान नदियाद जाकर अपना वचन पूरा करना चाहता था, मगर परिस्थितियों के कारण ऐसा नहीं कर पाया । सबसे प्रमुख कारण तो यह है कि आप वहाँ नहीं थे; और हैमलेट की भूमिका को छोड़कर हैमलेट नाटक का मंचन एक हास्यास्पद बात होती; फिर मुझे निश्चित रूप से यह मालूम था कि आप कुछ ही दिनों में नदियाद आनेवाले हैं और चूँकि मैं भी शीघ्र ही – करीब २० दिनों बाद, मुम्बई जानेवाला हूँ, अत: तब तक के लिये मैंने अपनी यात्रा को स्थगित कर देना ही उचित समझा ।

यहाँ खेतड़ी के राजा साहब मुझसे मिलने के लिए बड़े उत्सुक थे और उन्होंने अपने निजी-सचिव को मद्रास भेजा था, इसलिए मुझे खेतड़ी आना पड़ा, परन्तु यहाँ गर्मी असह्य है, अत: मैं शीघ्र ही भागनेवाला हूँ ।

बहरहाल, मैं दक्षिण के अधिकांश राजाओं से परिचित हो गया हूँ और कई स्थानों में मैंने विचित्र बातें देखीं, जिनके विषय में अगली बार मिलने पर आपको विस्तारपूर्वक बताऊँगा । मैं अपने प्रति आपके स्नेह को जानता हूँ और आशा है कि आप मेरे वहाँ न पहुँचने के लिये क्षमा करेंगे । फिर भी, कुछ ही दिनों में मैं आपके यहाँ आ रहा हूँ ।

एक बात और, क्या जूनागढ़ में इस समय आपके यहाँ सिंह के बच्चे हैं? क्या आप मेरे राजा साहब के लिए एक दे सकते हैं? यदि आप चाहें तो वे विनिमय के रूप में राजपुताना के कुछ पशु दे सकते हैं ।

रतिलाल भाई से मैं ट्रेन में मिला था । वे पूर्ववत् ही अच्छे दयालु सज्जन हैं । प्रिय दीवानजी साहब, मैं आपके लिये इससे अधिक और क्या कामना कर सकता हूँ कि आपके उस सु-अर्जित, सर्व-प्रशंसित और सर्व-समादृत जीवन के उत्तरार्ध में, जो सदा ही सतत पवित्र, शुभ तथा दयामय प्रभु की सन्तानों की सेवा में रत रहा है, प्रभु ही आपके सर्वस्व हों । एवमस्तु ।

सस्नेह आपका, विवेकानन्द

खेतड़ी, मई (प्रथम सप्ताह), १८९३

प्रिय दीवानजी साहब, (श्री हरिदास बिहारीदास देसाई)

मुझे पत्र लिखने के पूर्व निश्चय ही आपको मेरा पत्र नहीं

८. यह पत्रांश स्वामीजी की ग्रन्थावली में नहीं है । इसके फोटोग्राफ के लिए देखिये – राजस्थान में स्वामी विवेकानन्द, भाग २, पृ. १८७

* Bible, Old Testamenet, Book of Job

मिला । आपका पत्र पढ़ते हए मुझे हर्ष तथा विषाद, दोनों ही हुए । हर्ष इसलिये कि आपकी जैसी शक्ति, हृदय तथा पद-वाले एक व्यक्ति का स्नेह पाने का सौभाग्य मुझे है और दुख यह देखकर कि मेरी नीयत को बिल्कुल गलत समझा गया है । मुझ पर विश्वास रखिये कि मैं आपको पितृवत् आदर तथा स्नेह करता हूँ और आप तथा आपके परिवार के प्रति मेरी कृतज्ञता असीम है । सच बात तो यह है कि आपको याद होगा कि शिकागो जाने की मेरी इच्छा पहले से ही थी । और **जब मैं मद्रास में था, वहाँ की जनता ने स्वयं ही मैसूर तथा रामनाद के राजाओं के सहयोग से मुझे भेजने का सारा प्रबन्ध कर दिया था ।** आपको यह भी ज्ञात होगा कि खेतड़ी के महाराज और मैं स्नेह के अन्तरंगतम सूत्र में आबद्ध हैं । मैंने उनको सामान्य तौर पर लिखा कि मैं अमेरिका जा रहा हूँ । स्नेहवश खेतड़ी महाराज ने सोचा कि प्रस्थान करने के पूर्व उनसे भेंट करना मेरा कर्तव्य है और विशेष रूप से ऐसे अवसर पर जब ईश्वर ने उनके सिंहासन के लिए एक उत्तराधिकारी प्रदान किया था । यहाँ जोरों से खुशियाँ मनायी जा रही थीं । मैं यहाँ निश्चित रूप से आऊँ, इस निमित्त उन्होंने मद्रास तक अपने निजी-सचिव को मुझे लिवाने भेजा और इस प्रकार मैं यहाँ आने के लिए विवश हो गया । इसी बीच यह पता लगाने के लिये कि आप नदियाद में हैं या नहीं, मैंने आपके भाई को तार दिया और दुर्भाग्यवश मैं उसका कोई भी उत्तर नहीं पा सका; अत: बेचारे सचिव ने, जो अपने स्वामी के लिए मद्रास-भ्रमण से काफी कष्ट उङा चुका था और यही ध्यान में रखा था कि यदि हम जलसे के अवसर तक खेतड़ी न पहुँच पाये, तो उसके स्वामी नाखुश होंगे, सहसा **जयपुर का टिकट खरीद लिया ।** रास्ते में श्री रतिलाल से हमारी भेंट हुई; उनसे सूचना मिली कि हमारा तार मिल गया था और यथासमय उसका उत्तर भी दे दिया गया था तथा श्री बिहारीदास मेरी प्रतीक्षा में थे । अब आप ही इसका न्याय करें, जिनका इतने दीर्घ काल से न्याय करना ही कर्तव्य रहा है । इस सम्बन्ध में मैं क्या करता या कर सकता था? यदि मैं उतर जाता, तो मैं यथासमय **खेतड़ी-जलसे में नहीं पहुँच सकता;** दूसरे, मेरे उद्देश्यों का गलत अभिप्राय लगाया जा सकता था । परन्तु आपके तथा आपके भाई का मुझ पर जो स्नेह है, उसे मैं जानता हूँ और मुझे यह भी याद था कि कुछ ही दिनों में शिकागो जाते समय मुझे मुम्बई जाना होगा । मैंने सोचा कि इसका सबसे अच्छा समाधान यही है कि लौटने के समय तक यात्रा को स्थगित कर दूँ ।

जहाँ तक आपके भाइयों द्वारा मेरी सेवा न पाने के कारण मेरी भावनाओं को क्लेस लगने की बात है, वह आपकी एक नयी खोज है, जिसकी मैंने स्वप्न में भी कल्पना नहीं की थी; या शायद ईश्वर जाने, आप विचार-विज्ञाता हो गये हैं । मजाक की बातें छोड़ दें, मेरे दीवान साहब, मैं वही कौतुकप्रिय शरारती किन्तु, आपको विश्वास दिलाता हूँ कि मैं सीधा-सादा बालक हूँ, जिससे आप जूनागढ़ में मिले थे; और आपके प्रति मेरा वही स्नेह है या सौ गुना हो गया है, क्योंकि मैंने आपकी तुलना मन-ही-मन दक्षिण के सभी राज्यों के दीवानों से कर ली है, और ईश्वर ही मेरा साक्षी है कि दक्षिण के प्रत्येक दरबार में आपकी प्रशंसा में मेरी जिह्वा कैसी वाचाल थी (यद्यपि मुझे ज्ञात है कि आपके सद्गुणों का मूल्य जानने के लिये मेरी शक्ति पूर्णतया अपर्याप्त है) ! यदि यह पर्याप्त व्याख्या नहीं है, तो मैं आपके क्षमा-प्रार्थना करता हूँ, जैसे एक पुत्र अपने पिता से करता है और ऐसा कीजिये, ताकि मैं इस भावना से अनुतप्त न रहूँ कि जो व्यक्ति मेरे प्रति इतना दयालु था, उसका मैं सदा कृतघ्न बना रहा ।

भवदीय, विवेकानन्द

पुनश्च – मैं आप पर इस बात के लिये आश्रित हूँ कि मेरे न आने से आपके भाई के दिमाग में जो भी गलतफहमी हो, उसे दूर करें और यदि मैं शैतान भी होता, तो भी मैं उनकी दयालुता तथा सज्जनता को नहीं भूल सकता था ।

जहाँ तक उन दो संन्यासियों का प्रश्न है, जो पिछली बार आपके यहाँ जूनागढ़ गये थे, वे मेरे गुरुभाई थे; उनमें से एक हमारा नेता है । तीन वर्षों बाद मैं उनसे मिला था और हम साथ-ही-साथ आबू तक आये, तत्पश्चात् मैंने उनका साथ छोड़ दिया । अगर हम चाहें, तो मुम्बई लौटने तक उनको मैं नदियाद ला सकता हूँ । ईश्वर आप तथा आपके परिवार पर आशीर्वादों की वर्षा करें ।

भवदीय, वि.[१]

खेतड़ी में रहते हुए स्वामीजी ने माउंट आबू में तपस्यारत अपने गुरुभाइयों स्वामी ब्रह्मानन्द तथा स्वामी तुरीयानन्द को भी दो-एक पत्र अवश्य लिखे होंगे, पर उसका कोई उल्लेख नहीं मिलता, वैसे हम आगे देखेंग कि बाद में मुम्बई के लिये रवाना होते समय उन्होंने तार देकर उन्हें आबूरोड स्टेशन पर आकर मिलने का निर्देश दे दिया था ।

१. तीनों पत्र – विवेकानन्द साहित्य, खण्ड २, पृ. ३८७-९, ३९२

❖ (क्रमशः) ❖
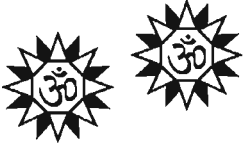
स्वामी विवेकानन्द के संस्मरण (२)
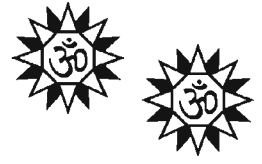
के. सुन्दरराम अय्यर

(धन्य थे वे लोग, जिन्होंने स्वामीजी के काल में जन्म लिया तथा उनका पुण्य सान्निध्य प्राप्त किया। उनके प्रत्यक्ष सम्पर्क में आनेवाले अनेक लोगों ने अपनी अविस्मरणीय स्मृतियाँ लिपिबद्ध की हैं, जो विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं तथा ग्रन्थों में प्रकाशित हुई हैं। प्रस्तुत संस्मरण अद्वैत आश्रम द्वारा प्रकाशित 'Reminiscences of Swami Vivekananda' ग्रन्थ से गृहीत तथा अनुवादित हुआ है। – सं.)

स्वामीजी के चेन्नै-आगमन के तीसरे दिन (८फरवरी) जब उनके मद्रास-अभिनन्दन को स्वीकार करने का निश्चित समय हो गया, तो अपराह्न में लगभग चार बजे वे कैसल कर्नन से बाहर निकले। उस दिन सबका हृदय उच्च तथा महान् आशा से परिपूर्ण था। शिक्षित समुदाय तथा छात्रों के मन में जो तीव्र रुचि उत्पन्न हुई थी, उसकी कल्पना तक नहीं की जा सकती। विक्टोरिया हॉल तथा उसकी ओर जानेवाले सभी रास्तों एवं गलियों में दिखाई दे रहें दृश्यों का उचित विवरण देना या सविस्तार वर्णन करना असम्भव है। निर्दिष्ट स्थान की ओर जाने के मार्ग में स्वामीजी की गाड़ी को चलने योग्य जगह ही नहीं मिल रही थी। स्वामीजी के कृपापूर्ण अनुरोध पर मैं तथा प्राध्यापक रंगाचार्य उन्हीं की गाड़ी में बैठे हुए थे। अब तक उन्होंने जो उपलब्धियाँ की थीं उनका स्मरण करते हुए और वैदिक धर्म के प्रचारक के रूप में उनका भावी जीवन कैसा होगा, मन-ही-मन इस बात की कल्पना करते हुए मैंने स्वयं को धन्य माना और आनन्दपूर्वक एक बार फिर उनकी अद्भुत आँखों की ओर सीधे देखा। पुनीत ऋषियों द्वारा वरदान-रूप में प्रेषित उनके इन नवीन दूत ने इस देश में आशा तथा विश्वास की जो ज्योति जगायी थी, उसके फलस्वरूप मैं अपनी महान् भारतभूमि के भविष्य से सम्बन्धित उच्च आशाओं तथा आकांक्षाओं के विषय में सोचने लगा।

मैं मानता हूँ कि यद्यपि मेरी उस पल की अपेक्षाओं तथा उसके बाद की बीती चौथाई शताब्दी की वास्तविकता के बीच भारी अन्तर है, तथापि निराश होने की कोई जरूरत नहीं। मेरा पूरा विश्वास है कि देर-सबेर स्वामीजी द्वारा उस समय आरम्भ किया गया कार्य अवश्य रूपायित होगा, उनके द्वारा निर्दिष्ट कार्य-योजना की उपयोगिता में हमारा विश्वास स्थिर होगा; और पूरी मानवीय प्रकृति तथा मानवीय संस्थाओं का आध्यात्मीकरण – रूप उनके द्वारा निर्धारित लक्ष्य की ओर प्रगति स्वाभाविक रूप से थोड़ी धीमी ही होगी।

हमारे गाड़ी से उतरते ही हॉल के सामने एकत्र विराट जनसमूह में से सर्वत्र यह शोर उठा – 'सभा खुले स्थान में हो'। पहले से ऐसा निर्धारित हुआ था कि हॉल के भीतर ही स्वामीजी को अभिनन्दन-पत्र दिया जाएगा। परन्तु हॉल में तिल रखने की भी जगह न थी। सर वी. भाष्यम् अयंगार ने इसी बीच सभापति का आसन ग्रहण कर लिया था। स्वामीजी मंच पर उनकी बगल में बैठे और श्री एम.ओ. पार्थसारथी अयंगार ने अभिनन्दन-पत्र का पाठ किया। सबकी आँखें स्वामीजी पर ही जमी हुई थीं और सभी लोग अति उच्च अपेक्षाओं के साथ बैठे थे। हर हृदय महान् आचार्य के ज्ञान तथा वाणी के संगीत की उस मधुर धारा का पान करने के लिये उत्सुक तथा आकुल था, जिसके हर शब्द के लिये उनके पाश्चात्य श्रोता उत्सुकतापूर्वक प्रतीक्षा किया करते थे और जिसने पश्चिम की भौतिकवादी सभ्यता के जीवन-केन्द्रों के सभी स्तर के नर-नारियों को मंत्रमुग्ध कर दिया था।
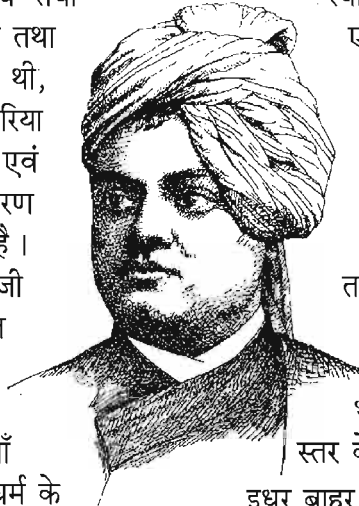
इधर बाहर से निरन्तर – 'सभा खुले स्थान में हो' – की आवाज उठते रहने से भीतर की कार्यवाही में विघ्न पड़ रहा था। यह आवाज बाहर खड़े छात्रों तथा युवकों की विशाल भीड़ से उठ रही थी। इससे स्वामीजी का हृदय अभिभूत हो उठा और उनके लिए मंच पर से व्याख्यान दे पाना असम्भव हो उठा। उन्होंने यह भी कहा कि वे आग्रह एवं उत्साह के साथ बाहर खड़े असंख्य युवकों को निराश नहीं कर सकेंगे।

स्वामीजी तथा (हाल में बैठे) उनके श्रोता बाहर आकर, जहाँ तक दृष्टि जाती थी वहाँ तक फैले अपार जनसमुद्र के साथ मिल गए और इसके साथ ही वे लोग भी स्वामीजी को अपने बीच में पाकर हर्षोन्मत्त होकर तुमुल आनन्दघोष करने लगे। स्वामीजी शीघ्र ही समझ गए कि जनता के इस प्रचण्ड कोलाहल तथा आनन्द-ध्वनि के बीच उनकी कण्ठ-ध्वनि केवल आसपास के कुछ लोगों तक ही पहुँच सकेगी। स्वामीजी की वाणी में मोहक मधुरता तथा रोमांचकारी प्रवाह होने के बावजूद, उसमें ग्लैडस्टोन, ब्राइट या ओ' कोनेल के जैसी आवाज की सबलता का अभाव था, जो सिंगे की ध्वनि के समान पचास हजार या उससे भी अधिक लोगों के लिये उसे श्रुतिगम्य बना पाती। स्वामीजी एक मद्रासी घोड़ागाड़ी के ऊपर से, उन्हीं की शब्दों में 'गीता के फैशन में' भाषण देने लगे और जो लोग उसे सुन सके, वे सभी बड़े उल्लसित

हुए। यह मानो एक तरह की उपमा थी, जिसमें वे एक घोड़ेगाड़ी पर बैठकर एक नये युग का उद्घाटन करते हुए उसके उषाकाल में अपने देशवासियों को निर्देश तथा प्रेरणा दे रहे हैं और श्रीकृष्ण रथ में बैठे काल की दीर्घ अन्तराल के फलस्वरूप लुप्त हुए अपने पुरातन योग को दुबारा दे रहे हैं।

इसके बाद वह विराट् भीड़ इतनी अव्यवस्थित हो गयी और उनके शोरगुल तथा हर्षध्वनि ने इतना प्रचण्ड रूप धारण किया कि स्वामीजी का कण्ठस्वर उसमें बिल्कुल ही खो गया। इस कारण उन्होंने अपना व्याख्यान संक्षेप में ही समाप्त कर दिया, तो भी इसी दौरान वे हिन्दू धर्म के मूलभूत तत्त्वों के बारे में बोल गए। उन्होंने बताया कि अद्वैत आत्मा के चिरन्तन अनुभूति कराकर 'जीवन के रहस्य' को सत्य के आनन्द में परिणत करने और इस जीवों को संसार-सागर पार करने में सहायक के रूप में कैसे त्याग, प्रेम तथा निर्भयता भारत की मानव-जाति को देन हैं।

परन्तु लम्बा व्याख्यान देना उनके लिए सम्भव नहीं हो सका था; अतः श्रोताओं को धन्यवाद देते हुए व्याख्यान के अन्त में उन्होंने सबसे अनुरोध किया कि वे लोग अपने इस उत्साह को बनाए रखें और भारत के लिए वे जो महान् कार्य करना चाहते हैं तथा इस विशाल जाति के पुनरुत्थान के लिए उन्होंने जो योजनाएँ बनायी हैं, उनके रूपायन में जो भी सहायता लगे उसे प्रदान करें।

उनके प्रथम भाषण का विषय था – 'मेरी समर नीति'। स्वामीजी ने बातचीत के दौरान मुझे तथा अन्य मित्रों को बताया कि थियॉसाफिकल सोसायटी ने अमेरिका तथा अन्य स्थानों पर उनके साथ जो कुछ किया है, उसकी सत्यता से एक बार वे सबको स्पष्ट रूप से अवगत करा देना चाहते हैं। कुछ मित्रों ने स्वामीजी को बताया था कि कर्नल आल्काट ऐसा दावा कर रहे हैं कि थियॉसाफिकल सोसायटी ने ही अमेरिका में स्वामीजी के कार्य के लिये पथ प्रशस्त किया है और वे यह भी कहते फिर रहे हैं कि यदि उन लोगों ने सर्वत्र 'रहस्यवाद' तथा 'प्राचीन ज्ञान' के प्रचार के रूप में प्रारम्भिक कार्य नहीं किया होता, तो स्वामीजी ने वेदान्तिक धर्म तथा दर्शन का जो थोड़ा-बहुत प्रचार किया है, वह भी उनके द्वारा सम्भव नहीं हो पाता। स्वामीजी के चेन्नै पहुँचने पर उनके एक गुरुभाई ने उन्हें बताया था कि कोलकाता के उनके एक सुप्रसिद्ध बौद्ध मित्र को चेन्नै के थियॉसाफिकल सोसायटी के एक प्रमुख नेता का पत्र मिला है, जिसमें उन्होंने यह सुनकर कि स्वामीजी ने अमेरिका से अपने चेन्नै के मित्रों को तार भेजा है कि धर्म-महासभा के लिये प्रस्थान करते समय वे जो धनराशि लेकर चले थे, उसका अब बहुत कम अंश ही बचा हुआ है और शीघ्र ही उन्हें भूखों मरने की नौबत आ जायेगी तथा आसन्न शीतकाल के दौरान गरम वस्त्रों के अभाव का सामना करना पड़ेगा, लिखा है – "हम लोग शीघ्र ही उस शैतान (स्वामीजी) से छुटकारा पा जायेंगे।" यह पत्र सुरक्षित रूप से रखने के लिये बेलूड़ मठ (आलमबाजार मठ) को दे दिया गया था। स्वामीजी ने यह भी बताया कि अमेरिका में जहाँ कभी से भी उन्हें व्याख्यान देने का निमंत्रण मिलता, थियॉसाफिस्ट लोग विभिन्न प्रकार से वहाँ जाकर उनके वेदान्त-प्रचार में बाधा डालने का प्रयास करते। इसके अतिरिक्त थियॉसाफी के महात्मा-सम्बन्धी निरर्थक बचकानी बातों और भयंकर काल्पनिक कथाओं के फलस्वरूप सभी गण्यमान्य अमेरिकावासियों के मन में यही आता कि स्वामीजी का कार्य भी आम जनता के मन में निहित सहज विश्वास के भाव को जँचनेवाला वैसा ही कोई बुद्धि-विरोधी भाव है, और यह भी सभी प्रबुद्ध नागरिकों तथा उन सभी के द्वारा भी उसी (थियॉसाफी) के समान बहिष्कार करने योग्य है, जिनकी धर्म-विषयक श्रद्धा तथा विश्वास सत्यापन तथा प्रमाण की ठोस पद्धतियों और ध्यान के परम्परागत तथा प्रामाणिक पद्धतियों के फलस्वरूप होनेवाली अनुभूतियों पर आधारित है। इस परिस्थिति के फलस्वरूप सर्वत्र उत्पन्न हुई चरम परिमाण में अकारण घृणा तथा निरर्थक विरोध का भी स्वामीजी को सामना करना पड़ा।

इसके अतिरिक्त ईसाई मिशनरियों ने भी सर्वत्र इस बात का प्रयास किया कि लोग उन्हें प्रश्रय न दें या फिर वेद-वेदान्त के सिद्धान्तों तथा साधनाओं के लिये समर्थन तथा सहानुभूति जुटाने के उनके प्रयासों में उनकी सहायता न करें। स्वामीजी ने मुझे बताया कि यहाँ तक कि ब्रह्मसमाज के नेता और धर्म-महासभा के एक प्रतिनिधि श्री मजुमदार, जिन्हें स्वामीजी अपनी तरुणाई तथा छात्रावस्था के दिनों से ही जानते थे, वे भी इन झूठी कहानियों को गढ़ने तथा प्रचार करने के कार्य में ईसाई मिशनरियों के साथ जुड़ गये और स्वामीजी के वैदिक धर्म के प्रचार के प्रयास की निन्दा करते और यह कहते हुए घूमने लगे कि भारत के बुद्धिजीवियों और साथ ही वहाँ के आम लोगों के मन से धर्म की पकड़ घटती और लुप्त होती जा रही है और इस कारण ईसा को भारत में रहने के लिये आना होगा। स्वामीजी ने मुझे अमेरिका से प्रकाशित एक ईसाई साप्ताहिक के दो अंक भी दिखाये, जिनका नाम अब इतने दिनों के बाद मुझे स्पष्ट रूप से याद नहीं आ रहा है, पर सम्भवत: इसका नाम था – 'द विटनेस'। इसमें मिशनरियों ने यह बताते हुए मजुमदार द्वारा भारत में प्रचार-कार्य में सहायता करने हेतु धन के लिये अपील की थी कि किस प्रकार वे भी ईसा मसीह का प्रचार करेंगे और अन्तत: ईसाई धर्म की परम विजय में सहायक सिद्ध होंगे। विरोधी मतों या सम्प्रदायों के नेताओं के बीच के अपेक्षित सम्बन्धों तथा सम्मानित सार्वजनिक जीवन की सभी

स्वीकृत मापदण्डों की दृष्टि से यह समझौता अनुचित था और स्वामीजी ने इसकी कठोर निन्दा की। अपने प्रथम चेन्नै भाषण में जब स्वामीजी ने जिनका 'मेरे एक भारतवासी भाई', 'भारत में एक सुधारक दल के नेता' आदि के रूप में उल्लेख किया, वे मजुमदार ही थे।

चेन्नै के स्वामीजी के कुछ मित्रों तथा समर्थकों ने उन्हें अमेरिका के अपने विरोधियों और विशेषकर थियॉसाफिकल सोसायटी तथा इसके संस्थापक पर आक्रमण करने से विरत करने का प्रयास किया। उन लोगों ने बताया कि सोसायटी के कई सदस्य उनके प्रति अगाध श्रद्धा तथा सम्मान का भाव रखते हैं और पश्चिम से उनके वापस लौटने के अवसर पर वे लोग आसपास के स्थानों से बड़ी संख्या में उनका स्वागत-सत्कार करने के लिये एकत्र हुए हैं। परन्तु स्वामीजी अडिग थे और वे तथ्यों को जिस रूप में जानते थे, उन्हें उसी रूप में प्रकट किया – जो लोग सर्वदा सार्वजनिक रूप से घोषणा कर रहे थे कि वे 'विश्व-बन्धुत्व के केन्द्र' हैं, उन लोगों द्वारा उत्पन्न की गयी जिन कठिनाइयों का उन्हें सामना करना पड़ा था, उनके विषय में सब कुछ स्पष्ट रूप से बता दिया।

उनके लिये नियत चार व्याख्यानों में से पहला, उनके चेन्नै आने के चौथे दिन – ९ फरवरी, मंगलवार की शाम को हुआ था। उसी दिन सुबह उन्होंने ट्रिप्लिकेन लिटरेरी सोसायटी (ट्रिप्लिकेन साहित्य समिति) में व्याख्यान दिया था। चूँकि मैं उस व्याख्यान में उपस्थित नहीं था; अत: अपने प्रत्यक्ष अनुभव से मैं उसके बारे में कुछ नहीं कह सकता। फिर १० फरवरी को बुधवार के दिन जब वे 'सोशल रिफार्म एसोसिएशन' (समाज-सुधार-समिति) देखने गए, उस समय भी मैं वहाँ नहीं था। तथापि वहाँ जो कुछ हुआ था, उसके बारे में पूछने पर स्वामीजी ने मुझे बताया कि वहाँ उन्होंने विशेष महत्त्वपूर्ण कुछ नहीं कहा; उन्होंने अस्पृश्यता-निवारण और प्राचीन आधार पर जाति-प्रथा के पुनर्गठन आदि समाज-सुधार के कार्यों की आवश्यकता को स्वीकार करते हुए भी, उस समिति के प्रमुख सदस्यों के मन में जो क्रान्तिकारी विचार थे, उन्हें उन्होंने जरा भी प्रोत्साहित नहीं किया।

अब अग्रसर होने के पूर्व मुझे थोड़ा पीछे लौटकर ८ फरवरी की कुछ घटनाओं का वर्णन कर लेना होगा। मुझे दिनांकों की जानकारी है और यथासम्भव अपनी स्मरण-शक्ति के आधार पर मैं तथ्यों को कालक्रम से प्रस्तुत करूँगा। प्राध्यापक पी. लक्ष्मी नरसू को मैं सर्वदा एक विद्वान् और सच्चरित्र सज्जन के रूप में श्रद्धा की दृष्टि से देखता था। वे लगभग दोपहर के समय श्री एन. के. रामस्वामी अय्यर महाशय के साथ कैसल में आए। श्री लक्ष्मी नरसू विज्ञान के अध्येता तथा एक निष्ठावान बौद्ध थे, परन्तु उनके संगी से मेरा परिचय नहीं था। बाद में मुझे ज्ञात हुआ कि "The Awakener of India" (भारत-प्रबोधक) नामक जो पत्रिका कुछ काल तक अनियमित रूप से प्रकाशित हुई और कुछ अंकों के बाद पूर्ण रूप से बन्द हो गयी थी, ये प्रथम सज्जन (श्री नरसू) उसी के सम्पादक तथा प्रधान लेखक थे और दूसरे सज्जन उसी के प्रकाशक थे।

कुछ काल पूर्व स्वामीजी की सहायता अथवा सुझाव पर चेन्नै से जो "The Awakened India" (प्रबुद्ध भारत) नामक मासिक पत्रिका प्रकाशित हो रही थी, नरसू के मन में ऐसी आशंका हुई थी कि पत्रिका का यह नाम (प्रबुद्ध भारत) पढ़कर लोगों के मन में कहीं यह भ्रान्त धारणा न हो जाय कि भारत जाग चुका है, अत: इस काल्पनिक आशंका का निवारण करने के लिए ही नरसू ने अपनी पत्रिका को ऐसा नाम दिया था। प्रबुद्ध-भारत पत्रिका स्वामीजी द्वारा बाद में मायावती को स्थानान्तरित कर दी गयी और अब भी वही से प्रकाशित हो रही है। स्वामीजी के पास आनेवाले इन दो आगन्तुकों की स्पष्ट धारणा थी कि स्वामीजी ने जिस उद्देश्य की पूर्ति के लिये अमेरिका में इतना परिश्रम किया तथा चेन्नै से उनकी इच्छानुसार 'ब्रह्मवादिन्' तथा 'प्रबुद्ध भारत' नामक पत्रिकाओं के प्रकाशन के साथ जो प्रचार-कार्य चल रहा था, उनसे अब तक नवीन कर्मोद्यम के लिए प्रेरणा का सूत्रपात नहीं हो सका है और भारत अब भी अपनी युगों से चली आ रही तन्द्रा तथा आलस्य में निमग्न है; जब तक उनकी "The Awakener of India" (भारत-प्रबोधक) पत्रिका चल रही थी, तब तक उसने जनगण के उत्थान में महत्त्वपूर्ण भाग लिया था। मैडम ब्लॉवस्टकी ने अपनी रचनाओं में थियॉसाफी मत के बारे में जो परिकल्पना की थी, उस पत्रिका में उसकी कठोर समालोचना से युक्त कुछ विद्वेषपूर्ण निबन्ध प्रकाशित हुए थे, जिनकी मुझे अब भी स्मृति है। ऊपरी मंजिल के बगलवाले कमरे में प्रविष्ट होकर मैंने वहाँ स्वामीजी के उन दोनों आगन्तुकों तथा अन्य लोगों को बैठे देखा। स्वामीजी भी उन लोगों के सामने एक दीवार के पास बैठे थे – वे उसके सहारे नहीं, अपितु शास्त्र-व्याख्याता आचार्य के उपयुक्त अपनी सामान्य मुद्रा में बैठे थे। अपनी अजेय स्थिति के बारे में निश्चिन्त व्यक्ति जैसे शान्त और चुप रहता है, श्री लक्ष्मी नरसू भी उसी भाव से बैठे थे। उनके संगी, जो अपने परवर्ती जीवनवृत्त के कारण हम सबके लिए सुपरिचित हुए थे, मेरे कमरे में प्रविष्ट होते समय कह रहे थे – "स्वामीजी, हम लोग आपके साथ दर्शन तथा धर्म के बारे में, विशेषकर वेदान्त के विषय में हमारी जो कठोर आपत्तियाँ हैं, उन पर आपके साथ खुली चर्चा करना चाहते हैं। आप हमारे लिए कब समय निकाल सकेंगे?" स्वामीजी ने मुझे बुलाकर अपने पास बैठने को कहा। इसके बाद अपनी स्वाभाविक मुस्कान से आलोकित मुखमण्डल के साथ वे बोले – "ये मेरे मित्र

सुन्दर रामन हैं। ये आजीवन वेदान्ती रहे है और ये ही आपके सभी तर्कों के उत्तर देंगे। आप इनसे बातें कर लें।''

इस पर श्री एन.के. रामस्वामी अय्यर बड़े नाराज हुए और अवज्ञा-सूचक दृष्टि से मेरी ओर देखा। इसके बाद वे एक बार फिर स्वामीजी की ओर उन्मुख होकर बोले – ''हम लोग यहाँ आपसे मिलने आए है, किसी अन्य व्यक्ति से नहीं।'' स्वामीजी इस पर मौन रहे। इसी बीच और भी लोग आ गए तथा अन्य विषयों पर चर्चा होने लगी। स्वामीजी जहाँ थे, वहीं थोड़ी देर और बैठे रहे। मैं बाहर चला और मुझे नहीं मालूम कि बाद में वहाँ क्या हुआ।

उसी दिन स्वामीजी थोड़ा विश्राम लेने के बाद तीसरे प्रहर कैसेल कर्नन की ऊपरी मंजिल के पिछले कमरे में बैठे हुए थे। उस समय मैंने उन्हें मधुर प्रशान्ति की उस मन:स्थिति में देखा, जब उनके चेहरे पर एक साथ ही एक शिशु तथा एक देवदूत का भाव झलकने लगता था। उनके इस मनोभाव को मैंने त्रिवेन्द्रम् में कई बार देखा था और ऐसे अवसरों या क्षणों में जिन्हें भी उनसे मिलने या बातें करने का सौभाग्य होता था, वे उनके प्रति अदम्य आकर्षण का अनुभव करते थे।

अभी-अभी मैंने स्वामीजी की अपराह्न की निद्रा का उल्लेख किया है और अब मैं बताने जा रहा हूँ कि ऐसे अवसरों पर क्या होता था। उनके पास हमेशा आगन्तुकों का ताँता लगा रहता था और वे बैठकर उनके साथ बातें किया करते थे। उस समय उनकी आँखें खुली रहकर भी सहसा स्थिर हो जातीं और ऐसा लगता मानो वे कुछ सुन नहीं रहे हैं या यहाँ तक कि आसपास जो कुछ हो रहा है, उसके प्रति सचेत नहीं हैं। उसके बाद जब वे पुन: अपने परिवेश के प्रति सचेत होते, तो ऐसा प्रतीत होता कि वे उसके प्रति पूर्णत: अचेत रहे हों। उस समय वे न सो रहे थे और न जाग रहे थे। कैसल में बिताये उन नौ दिनों के दौरान एक ऐसे ही अवसर पर मैंने स्वामीजी से पूछा कि यह किस प्रकार की मन:स्थिति है ! उन्होंने केवल इतना ही कहा – ''मैं नहीं कह सकता कि वह क्या है।'' मैंने इस विषय में जानने के लिये हठ नहीं किया। मैं निश्चित रूप से नहीं कह सकता, पर क्या यह अपने आसपास के व्यस्ततापूर्ण परिवेश तथा जीवन की थकान से मुक्त होने के लिये स्वेच्छापूर्वक अपनी अन्तरात्मा की गहराइयों में उतर जाना था ! कुछ लोग ऐसा सोच सकते हैं कि यह स्वामीजी को नींद आने के पूर्व की एक तन्द्रावस्था मात्र है। परन्तु मैंने उन्हें – उस मन:स्थिति में जाते और उससे लौटते – दोनों अवस्थाओं में देखा है और मुझे यह भी याद है कि उस समय वे कितनी देर तक बैठी हुई अवस्था में रहते थे और उनकी आँखें गति के किसी भी लक्षण से रहित स्थिर होने के बाद कैसी विचित्र प्रतीत होती थीं। इसके आधार पर मैं यह कहे बिना नहीं रह सकता कि उस समय वे मुझे एक ऐसे व्यक्ति प्रतीत होते, जो अपने दैहिक नीड़ से निकलकर अस्तित्व की किसी अन्य अवस्था में पहुँच गये हों। योग-वाशिष्ठ रामायण की अनेक विचित्र घटनाओं में से किसी एक में ऐसी ही एक अवस्था का वर्णन है।

उसी दिन अपराह्न में लगभग चार बजे सालेम जिले के तिरुपत्तुर (जो अब उत्तरी आरकाट जिले में चला गया) से एक प्रतिनिधि-मण्डल स्वामीजी से मिलने आया। मुझे जहाँ तक याद आता है, स्वामीजी उस पूर्वोक्त कमरे में ही बैठे थे। यह प्रतिनिधि-मण्डल पाँच-छह लोगों का था और उनमें सभी शैव थे। उनमें से कोई भी ब्राह्मण न था। यह बात तब आसानी से समझ में आ जायेगी, जब ज्ञात हो – और कम-से-कम मुझे तो यही प्रतीत हुआ – कि वे लोग वहाँ के तत्कालीन जिला मुंशिफ द्वारा तैयार करके स्वामीजी से मिलने को भेजे गये थे। ये जिला मुंशिफ बाद में 'सिद्धान्त-दीपिका' पत्रिका के संस्थापक तथा सम्पादक हुए, जो कुछ वर्षों से बन्द है; इसके साथ ही वे 'शैव-सिद्धान्त-महासभा' नामक आन्दोलन के संस्थापक तथा संयोजक भी थे। यह महासभा अब भी विभिन्न स्थानों में अपना वार्षिक सम्मेलन किया करती है और इसकी प्रेरणा से अनेक स्थानीय शैव-सभाओं का भी उद्भव हुआ है, जो अपनी गतिविधियाँ चलाती हैं तथा वार्षिकोत्सव भी किया करती हैं।

श्री नल्लस्वामी पिल्लै मेरे सुपरिचित थे तथा मेरे प्रति बड़ी मित्रता का भाव भी रखते थे। शैव मत के प्रबल समर्थक होकर भी, वे अपने मत को इसलिये उदार बनाना चाहते थे, ताकि यह सबके लिये स्वीकार्य हो जाय और इसका न केवल भारत अपितु पूरे विश्व में प्रचार हो सके। मुझे ऐसा लगा और अब भी लगता है कि उन्हें स्वामीजी के कार्य और उनके अमेरिका, इंग्लैंड, भारत तथा अन्यत्र चले विजय-अभियान के उदाहरण से प्रेरणा मिली थी। वे शैव मत की परम्पराओं के संरक्षण के विषय में चिन्तित थे और अपने अनुयाइयों तथा समर्थकों में ब्राह्मणों को भी जोड़ना चाहते थे।

चूँकि स्वामीजी अद्वैतवादी थे, इसीलिए लगता है कि तिरुप्पत्तुर के प्रतिनिधि-मण्डल को जान-बूझकर ऐसा बनाया गया था कि वह उन पुरुषसिंह के पास जाकर, उन्हीं के गढ़ में उन्हें चुनौती दे और अद्वैतवाद के कुछ मूलभूत विषयों पर उन्हें पकड़ सके। दल के नेता के हाथ में प्रश्नों का एक लम्बा कागज था और उन्होंने स्वामीजी से उत्तरों की माँग की। स्वामीजी ने सिर हिलाकर अपनी सहमति व्यक्त की और उनसे आरम्भ करने को कहा।

पहला प्रश्न था, "अव्यक्त किस प्रकार व्यक्त हुआ?" क्षण भर के विलम्ब बिना ही स्वामीजी का तत्काल उत्तर मिला, परन्तु वह नीलाकाश से वज्र के समान गिरा और आक्रमकों के ऊपर ऐसा पड़ा कि उनका शरीर जड़ हो गया तथा स्नायुतंत्र निस्तेज तथा निष्क्रिय हो गया। बाद में एक अन्य सभा में भी वही प्रश्न एक युवा माध्व ब्राह्मण के द्वारा स्वामीजी से पूछा गया था, जो शायद किसी कॉलेज का छात्र था और अब चेन्नै की महापालिका का एक सक्रिय सदस्य है। उसे भी उसी प्रकार के शब्दों में वही उत्तर मिला और उसका भी वैसा ही प्रबल तथा विद्युत् के समान प्रभाव हुआ। स्वामीजी का उत्तर था – "कैसे, क्यों या किस कारण आदि प्रश्न व्यक्त जगत् से ही सम्बन्ध रखते हैं, परन्तु अव्यक्त (ब्रह्म) समस्त परिवर्तनों तथा कार्य-कारणों के परे है, अतएव इस परिवर्तनशील जगत् और उसमें स्थित हमारे इस सांसारिक जीवन के साथ उसका कोई सम्बन्ध ही नहीं है, इसलिये युक्तिसंगत रूप से यह प्रश्न नहीं उठाया जा सकता। उचित प्रश्न पूछिए – युक्तिसंगत प्रश्न पूछिए और मैं उत्तर दूँगा।"

इस उत्तर के फलस्वरूप चर्चा बन्द हो गयी और प्रश्नकर्ता समझ गए कि उनका आज एक ऐसे व्यक्ति से पाला पड़ा है, जो हर प्रकार की दार्शनिक पहेलियों तथा शंकाओं का समाधान करने में सक्षम है, एक ऐसे आचार्य से – जिनके सामने तर्कयुद्ध में उतरने की अपेक्षा विनम्रता एवं श्रद्धा के साथ अवनत हो जाना ही उनके लिए उचित रहेगा। वे बड़ी सावधानीपूर्वक बनायी और लिखकर लायी हुई अपनी योजना तथा प्रश्नमाला को मानो भूल गये और उन्हें सहसा महसूस होने लगा मानो उनके सम्मुख बैठा जादूगर अपनी छड़ी के स्पर्श से उन लोगों को अपनी अलौकिक शक्ति तथा सुदृढ़ पकड़ में लेकर उनके हृदय-मन को खींच रहा है। स्वामीजी को यह अवस्था समझते देर नहीं लगी।

इसके बाद जो दृश्य दिखाई पड़ा, उसका भाषा में वर्णन नहीं किया जा सकता। भारतीय तर्कयुद्ध की हर प्रकार की कलाओं तथा अस्त्रों के प्रयोग में कुशल इन वेदान्त-केसरी ने, अपने शत्रु-मन्थनकारी चाल-चलन तथा गर्जन, अपनी द्रुत-संचारी वज्रघोष-सदृश गम्भीर कण्ठध्वनि और अपने निचले जबड़े (जिसे उन्होंने मुझे एक बार अपने योद्धा भाव का द्योतक बताया था) को संयमित करके, सहसा एक ऐसा रूप धारण किया, जिससे लगा मानो वे सबके दीर्घ काल से बिछड़े बचपन के मित्र हों अथवा काफी समय के विच्छेद के उपरान्त एक स्नेहमय भ्राता के रूप में उन लोगों के साथ पुनर्मिलित हुए हों और पूरे हृदय से उनके कल्याण के प्रति सहानुभूतिशील हों।

इसके बाद स्वामीजी ऐसे सुर में ऐसी बातें कहने लगे कि वहाँ उपस्थित सभी लोग मंत्रमुग्ध हो गए। उन्होंने जो कुछ कहा, वह कुछ इस प्रकार था – "अभावग्रस्तों की सेवा करना, भूखों को भोजन कराना, पीड़ितों को सहानुभूति दिखाना, पतित एवं मित्रहीन की सहायता करना, रुग्ण तथा दुर्बलों की शुश्रूषा करना आदि ही ईश्वर की सर्वश्रेष्ठ सेवा तथा उपासना है। स्वामीजी जब इस प्रकार भावुकतापूर्वक अपने स्वदेशवासियों की सेवा का आह्वान कर रहे थे, तो प्रतिनिधि-मण्डल के लोग यह सब सुनते रहे। ऐसा लग रहा था कि आनन्द तथा शान्ति के जिस दूत की वे अब तक निष्फल खोज कर रहे थे, आखिरकार आज वे उन्हें मिल गये हैं, एक ऐसे गुरु जिसमें कोई शंका या छिपाव न था और जिन्होंने उनके हृदय में प्रवेश करके उसकी शून्यता को देख, उसे भरने के लिये आवश्यक आहार प्रदान किया है, उन्हें जीवन का केन्द्रीय सत्य तथा उसकी समस्याओं से मुक्ति पाने के उपायों की शिक्षा दी है।

संध्या का अन्धकार फैलने लगा। उन लोगों ने आचार्य के चरणों में अपनी श्रद्धा निवेदित की। विदा लेते समय उन के मुख का भाव देखकर लग रहा था कि उनके हृदय में एक नये आलोक की किरणें छिटक रही हैं और उनके जीवन तथा कार्य को एक नवीन प्रेरणा मिली है। ❖ **(क्रमशः)** ❖

माँ की स्मरणीय बातें

लक्ष्मीमणि देवी*

माँ श्री सारदा देवी दैवी मातृत्व की जीवन्त विग्रह थीं। उनके अनेक शिष्यों तथा भक्तों ने उनकी मधुर-पावन स्मृतियाँ लिपिबद्ध कर रखी हैं। हमारे लिए बँगला ग्रन्थ 'श्रीश्री मायेर पदप्रान्ते' से इस लेख का अनुवाद किया है इलाहाबाद की श्रीमती मधूलिका श्रीवास्तव ने। – सं.)

श्रीरामकृष्ण जब दक्षिणेश्वर के बगीचे में थे, तब श्रीमाँ और मैं ठाकुर के कमरे के उत्तर की ओर नौबतखाने के नीचे वाले कमरे में रहा करती थीं। माँ के साथ मैंने बहुत दिनों तक नौबतखाने में निवास किया था। तब माँ की आयु २२-२३ और मेरी १४-१५ साल रही होगी। नौबतखाने के उस छोटे कमरे में श्रीमाँ, मैं, गोलाप-माँ, योगीन-माँ रहतीं और बीच-बीच में मास्टर महाशय की पत्नी, चुनीलाल की पत्नी, गौरी-माँ तथा योगानन्द स्वामी की पत्नी[1] भी आ जाया करती थीं। फिर उसी में लकड़ी, चूल्हा, पानी का घड़ा और काठ का सन्दूक आदि गृहस्थी का हर तरह का सामान भी था। माँ खाना बनातीं और मैं उनकी सहायता करती। फिर रसोई भी कितने प्रकार की बनतीं – लड़कों के लिये नाश्ता, भोजन में दाल-भात तथा सब्जी और रात में गाढ़ी दाल तथा बड़ी-बड़ी रोटियाँ। ठाकुर के लिये रसेदार सब्जी तथा भात बनता और हम लोगों के लिये प्राय: भात और भरता जैसा कुछ होता। इसके अतिरिक्त कोई भक्त देरी से आकर गाड़ी से उतरते हुए हाँक लगाते – "आज चने की दाल खाऊँगा।" माँ फिर चने की दाल पकातीं।

नौबतखाने के सँकरे बरामदे को चटाई के परदे से सिर की ऊँचाई तक घेरा हुआ था। हमें उसके भीतर ही रहना पड़ता था। इसीलिये ठाकुर हम लोगों को पिंजड़े की चिड़ियाँ – तोता-मैना कहा करते। कभी-कभी जब उनके कमरे में कीर्तन-भजन आदि शुरू होता, तो ठाकुर पहले ही रामलाल दादा से नौबत की ओर के दरवाजे को खुलवा देते। कहते – यहाँ कितनी भाव-भक्ति होगी, वे लोग देखेंगी-सुनेंगी नहीं, तो फिर सीखेंगी कैसे? चिक के अंगुली के बराबर छेद से हम लोग ठाकुर के कमरे का सब कुछ देखतीं। उत्तर की ओर का दरवाजा प्राय: खुला रहता। भजन, कीर्तन, नृत्य, समाधि और भक्तों को लेकर कितना आनन्द होता! एक दिन (चटाई के) बीच के उस छेद को थोड़ा बड़ा देखकर ठाकुर हँसते हुए रामलाल दादा से बोले – "अरे रामलाल, तुम्हारी चाची के परदे का छेद तो बढ़ता ही जा रहा है।"

हम लोगों के दिन कितने आनन्द में बीते हैं, उसे अब कैसे बताऊँ? माँ और मैं जब नौबत में रहतीं, उस समय जो आनन्द होता, उसके सामने ब्रह्मानन्द भी तुच्छ प्रतीत होता। ऐसे ठाकुर का संग, जो पूर्ण से भी पूर्ण थे! उनको पूर्ण ब्रह्म या सृष्टि-स्थिति-लय के कर्ता कहने से थोड़े ऐश्वर्य का बोध होता है, पर हमारे ठाकुर में तो ऐश्वर्य का लेश तक न था। वे प्रेम की सजीव मूर्ति – प्रेम के सार-तत्त्व थे।

माँ जब ठाकुर को प्रणाम करने जातीं, तो ठाकुर की माँ[2] को भी प्रणाम करतीं।

दक्षिणेश्वर में रहते समय एक दिन श्रीमाँ ने कहा – "कल उन्होंने मेरी जीभ पर कुछ लिख दिया। तू भी जा न!" मैंने कहा – "मुझे बड़ी लज्जा आती है। क्या कहूँगी? न जाने कौन-कौन लोग वहाँ हैं!" इसके बाद एक दिन उन्हें प्रणाम करने गयी। मैंने कुछ कहा नहीं, पर उन्होंने स्वयं पूछा – "तुम्हें ईश्वर का कौन-सा रूप अच्छा लगता है?" मैं मन-ही-मन आनन्द से भर उठी, बोली – "राधा-कृष्ण"। उन्होंने उन्हीं का बीजमंत्र और नाम जीभ पर लिख दिया। उसके बाद मुँह से भी बता दिया। उन दिनों मेरे गले में तुलसी की माला थी। कामारपुकुर के जमींदार लाहा-बाबुओं की प्रसन्न-दीदी[3] ने पहना दिया था। बोली थीं – "माला पहनना। तुम पर अच्छा फबता है।" इसके पहले मैंने और माँ ने उत्तर-पश्चिम के एक संन्यासी से शक्तिमंत्र लिया था। वे अच्छे-खासे डील-डौल वाले शान्त मूर्ति थे, नाम था स्वामी पूर्णानन्द। वृद्ध देखने में पके आम जैसे थे। माँ ने बाद में यह बात ठाकुर को बताया था। उन्होंने कहा – "उससे क्या, लक्ष्मी को मैंने ठीक मंत्र ही दिया है।" वे संन्यासी हमारे गाँव कामारपुकुर गये थे।

* ये रामेश्वर की द्वितीय सन्तान तथा श्रीरामकृष्ण की भतीजी थीं और श्रीरामकृष्ण भक्तमंडली में 'लक्ष्मी दीदी' के नाम से सुपरिचित थीं।

१. श्रीरामकृष्ण के भक्त योगीन्द्रनाथ रायचौधरी – जो विवाहित थे और बाद में स्वामी योगानन्द हुए। यहाँ उन्हीं की पत्नी का उल्लेख है।

२. श्रीरामकृष्ण की गर्भधारिणी माँ चन्द्रमणि देवी

३. धर्मदास लाहा की बालविधवा कन्या प्रसन्नमयी। उनके व्यक्तित्व तथा पवित्र स्वभाव के कारण गाँव के सभी लोग उनके प्रति अत्यन्त श्रद्धा और आदर का भाव रखते थे।

सुना है कि उनसे ठाकुर और मेरे पिता[४] ने भी न जाने क्या-क्या मंत्र लिया था।

ठाकुर को रात में अधिक नींद नहीं आती थी। प्राय: रात के तीन बजे वे झाऊतले में शौच के लिये जाते। जाते समय नहबत के पास आकर मुझे पुकारते – "ओ लक्ष्मी, उठ रे उठ। अपनी चाची को जगा। और कितना सोयेगी? रात बीत चली। गंगाजल मुँह में डालकर माँ का नाम ले, ध्यान-जप शुरू कर दे।" उस समय हम लोगों की नींद हल्की हुई रहती। जाड़े के समय उनकी पुकार सुनकर माँ बीच-बीच में रजाई के भीतर सोये-सोये मुझसे धीरे से कहतीं – "तू चुप रह। उनकी आँखों में नींद नहीं। अभी उठने का समय नहीं हुआ। कौए-कोयलों की आवाज शुरू हुई नहीं। जबाब मत देना।" प्रत्युत्तर न पाकर या हम लोग अभी उठीं नहीं, यह सोचकर, वे दरवाजे के नीचे से पानी डाल देते। सब भीग जाने के डर से हम लोगों को जल्दी उठ जाना पड़ता। सब माने क्या – केवल एक चटाई और एक कथरी (गुदड़ी)। किसी-किसी दिन सब भीग भी जाता। सुखाना कठिन होता, धूप तो मिलती नहीं थी। बिस्तर को बाहर सुखाया नहीं जा सकता था। मुझसे बिस्तर भीग जाने की बात सुनकर ठाकुर गाते – "प्रेमेर ढेऊ लेगेछे गाय, शान्तिपुर डूबूडूबू नदे भेसे जाय" (भावार्थ – प्रेम की लहरें शरीर से टकरा रही हैं, शान्तिपुर प्राय: जलमग्न हो चुका है और नवद्वीप डूब रहा है) आदि। इसी से खूब सुबह उठने का अभ्यास हो गया है।

गाँव में रहते समय मैं माँ को थोड़ा पढ़ाया करती थी। मैं पाठशाला जाती थी। अनेक बाधाओं के बावजूद माँ ने पढ़ना सीखा था। नौबत में निवास के दौरान जब भी समय और सुविधा होती, मैं माँ को पढ़कर सुनाती। एक दिन ठाकुर ने बगीचे के पीताम्बर भण्डारी के ग्यारह साल के पुत्र शरत् भण्डारी से कहा – "तू लक्ष्मी और उसकी चाची को पहला और दूसरा भाग पढ़ा दे।" दोनों भाग पढ़ना हो जाने पर और हम लोगों को थोड़ा-बहुत लिखना आ जाने पर ठाकुर बोले – "अब और लिखना-पढ़ना सीखने की जरूरत नहीं, अब तुम लोग रामायण आदि धर्म-ग्रन्थ भलीभाँति पढ़ सकोगी।"

दक्षिणेश्वर में एक रात माँ और मैं धीमे स्वर में भजन गा रही थीं। भावपूर्ण भजन अच्छा जमा था। ठाकुर ने उसे सुना था। अगले दिन वे माँ से बोले – "कल तुम लोगों का भजन खूब जमा था। बहुत अच्छा, बहुत अच्छा!"

एक दिन यदु मल्लिक की पत्नी ने एक चौड़े लाल किनारी वाली साड़ी को गेरुए रंग में रँगकर माँ को दिया था। वे उसे पहनकर भवतारिणी काली और राधाकान्त को प्रणाम करने के बाद ठाकुर को प्रणाम करने गयीं। माँ को गेरुआ वस्त्र पहने देखकर ठाकुर ने मुझसे पूछा – "लक्ष्मी यह वस्त्र किसने दिया? नहबत में जाकर इसे उतारने को कह। बगीचे में जब कोई भैरवी आये, तो उसे देने को कहना। गेरुए वस्त्र का पानी पैर से स्पर्श नहीं होना चाहिये।"

देहत्याग के पूर्व काशीपुर के उद्यान-भवन में ठाकुर रोग शय्या पर हैं, तकिये का सहारा लेकर बैठे है। उसी रात देह-त्याग हुआ। सब चुपचाप हैं। सबने सोचा – अब उनकी वाणी रुद्ध हो चुकी है। माँ और मेरे कमरे में जाते ही क्षीण स्वर में कहने लगे – "आयी हो? देखो, मैं न जाने कहाँ चला जा रहा हूँ। मानो जल के भीतर से बहुत दूर चला जा रहा हूँ।" माँ रोने लगीं। ठाकुर बोले – तुम लोगों को चिन्ता किस बात की? जैसी हो, वैसी ही रहोगी। ये लोग (नरेन्द्र आदि) जिस तरह मेरी देखभाल कर रहे हैं, उसी प्रकार तुम्हारी भी करेंगे। लक्ष्मी को देखना, अपने पास रखना।"

* * * *

(१८८९ की जनवरी में) हम लोग माँ के साथ पुरी से स्टीमर में कोलकाता लौटकर बलराम बाबू के मकान में ठहरे। वहाँ से हमारी आँटपुर होते हुए कामारपुकुर जाने की व्यवस्था हुई। उस समय वहाँ स्वामीजी आदि भी थे। माँ को पाकर वे बड़े आनन्दित हुए। इसी बीच हम लोगों का सामान आ गया। उनमें बिस्तर का बण्डल काफी बड़ा था। उसे उतारते ही स्वामीजी बच्चों की भाँति खुश होकर उस पर घोड़े की तरह सवार हो गये और 'हट-हट' करते हुये अंग-भंगिमा के साथ मानो घोड़े को दौड़ाने लगे। माँ बालक का आनन्द देखकर खूब हँस रही थीं, आनन्दित हो रही थीं और इधर मेरी छाती घड़-घड़ करने लगी और आँखें तथा मुख भी फक्क हो गया। माँ मेरी अवस्था देखकर बोलीं – "लक्ष्मी को यह क्या हुआ?" मैंने कहा, "भैया को मना करो।" माँ बोलीं – "तुम्हीं कहो न" – और साथ ही भैया से बोलीं – "लक्ष्मी उतरने को कह रही है।" स्वामीजी तत्काल उतरकर बोले – "क्या हुआ दीदी? मुझे अच्छा घोड़ा मिला था।" मैं बोली – "उसमें मेरे जगन्नाथजी का चित्र है, टूट जायेगा।" स्वामीजी ने कहा – "तुम्हें पहले ही बताना था, तो क्या मैं चढ़ता?" यह कहकर उन्होंने भगवान जगन्नाथ के निमित्त प्रणाम किया। इससे हम लोगों को भी बड़ी खुशी हुई।

एक बार मैं दक्षिणेश्वर से कुछ भक्तों के साथ माँ से मिलने उद्‌बोधन गयी। हम लोगों की बहुत देर तक बातचीत होती रही। माँ ने बताया कि योगीन-माँ बुखार में पड़ी हैं। सुनकर मैं उन्हें देखने गयी। योगीन-माँ के उस दिन रुकने के लिये अनुरोध करने पर मैंने कहा – "कई लोगों को साथ लायी हूँ, आज जाती हूँ।" बीमार होने के कारण योगीन-माँ मेरे लिये कुछ कर न सकीं और मेरे चलते समय माँ के मन में भी मुझे कुछ खिलाने या देने की बात नहीं उठी। बाद में

४. श्रीरामकृष्ण के बड़े भाई रामेश्वर चट्टोपाध्याय

माँ यह सोचकर परेशान होने लगी कि लक्ष्मी का समुचित सत्कार नहीं हुआ, कहीं उसे बुरा न लगा हो। उसी दिन मैं अपने शिष्यों के साथ एन्टाली (मध्य कोलकाता) में ठाकुर का उत्सव देखने गयी। कुछ देर बाद माँ ने अपने किसी शिष्य से कहा – ''अरे, लक्ष्मी चली गयी! उसे कुछ दिया नहीं गया। तू ये दो रुपये ले और उसे नया वस्त्र दे आ।'' उस शिष्य ने माँ की आदेश शिरोधार्य किया और तत्काल वह वस्तु मुझे एन्टाली में दे गया।''

कामारपुकुर में एक बार एक भक्त के साथ हुई माँ की बातचीत के समय मैं भी उपस्थित थी। भक्त के विदा लेते समय माँ ने कहा – ''मुझे पुकारना।'' फिर तुरन्त बोलीं – ''ठाकुर को पुकारना, उन्हें पुकारने से ही सब होगा।''

मैं – नहीं माँ, यह कैसी बात, यह तो बड़ा अनुचित है। बच्चों को इस तरह भुलावा देने से वे क्या करेंगे?

श्रीमाँ – क्यों, मैंने क्या किया?

मैं – तुमने अभी कहा, 'मुझे पुकारना' और अब कह रही हो – 'ठाकुर को पुकारो'।

श्रीमाँ – ठाकुर को पुकारने से ही तो सब हो जायेगा।

मैं – माँ, इस तरह भुलावा देना तुम्हारे लिये अनुचित है। (भक्त से) देखो, मैंने आज यह नयी बात सुनी कि माँ कह रही हैं – 'मुझे पुकारो।' तुम यह बात भूलना मत। ठाकुर और क्या हैं? तुम माँ को ही पुकारो। तुम्हारा कितना बड़ा सौभाग्य है कि माँ ने स्वयं तुमसे यह बात कहा है। तुम माँ को ही पुकारना। (माँ से) क्यों माँ, अब ठीक हुआ न?''

माँ ने मौन रहकर अपनी सहमति जतायी।''*

माँ की बातें

स्वामी विशुद्धानन्द

माँ के बारे में कुछ कहूँगा। उन्हें हम लोगों ने समझा ही कितना है? भगवान शंकराचार्य अपने गीता-भाष्य में लिखते हैं कि अवतार पुरुष भी ठीक मनुष्य की तरह लीला करते हैं, परन्तु वे किसी नीजी कार्य-सिद्धि के लिये अवतार नहीं लेते, बल्कि जगत के कल्याणार्थ ही मनुष्यवत् आचरण करते हैं। वे लोकहितार्थ अपने शरीर तक की आहुति दे डालते हैं।

ठाकुर बिना बुलाये केशव सेन के कालूटोला वाले मकान पर गये। केशव उस दिन घर में नहीं थे। ठाकुर अगले दिन हृदय के साथ उनसे मिलने बेलघर गये। केशव से मिलने के लिये उनकी जो व्याकुलता थी, इसमें ठाकुर का अपना कोई स्वार्थ नहीं था। ठाकुर का वहाँ जाना, उन्हें कुछ देने के लिये था। केशव की बीमारी के समय ठाकुर ने सिद्धेश्वरी देवी के मन्दिर में नारियल-चीनी की मनौती मानी थी, जैसा कि अपने किसी प्रिय स्वजन के लिये किया जाता है। वे नरेन्द्रनाथ (विवेकानन्द) से कितना स्नेह करते थे! अहैतुक प्रेम! उस प्रेम का स्वाद जिसे मिला, उसके जीवन की धारा ही बदल गयी। वह स्वाद शब्दों में नहीं बताया जा सकता। भक्तप्रवर गिरीश घोष ने हम लोगों से कहा था – ''ठाकुर मुझे देवता बना गये हैं – तिरस्कार या भर्त्सना के द्वारा नहीं, प्रेम से।''

मुझे जीवन में पहली बार इस अहैतुकी प्रेम का स्वाद श्रीमाँ से ही मिला था। उनका अपार स्नेह पाने का सौभाग्य मुझे हुआ। घर में अपनी गर्भधारिणी माँ का इकलौता पुत्र होने के कारण बड़े लाड़-प्यार से मेरा लालन-पालन हुआ था। उन दिनों अपनी माँ का प्रेम ही मुझे श्रेष्ठ लगता, पर श्रीमाँ के सान्निध्य में आने पर वह प्रेम फीका लगने लगा।

माँ को मैंने पहली बार जयरामबाटी में देखा। १९०५ या १९०६ ई. की बात है। तब मेरी उम्र २२-२३ वर्ष की थी। मैं कोलकाता का निवासी, गाँव जा रहा था, चिन्ता थी कि माँ से मेरा परिचय कौन करायेगा? मन में संकोच का भाव था, पर जब उनके समक्ष जाकर खड़ा हुआ, तब माँ सब्जियाँ काट रही थीं। मुझे देखते ही बोलीं – ''कैसे हो बेटा? आते समय रास्ते में कोई कष्ट तो नहीं हुआ?'' कहाँ मैं पूरी तौर से अपरिचित! और – ''कैसे हो बेटा?'' यह कैसा प्रश्न! वह मेरे जीवन का एक अविस्मरणीय दिन है। उस दिन की याद करके आज भी मैं अपने आँसू नहीं रोक पाता। उस बार मैं माँ के पास सात दिन था! कितना स्नेह मिला था! कितनी स्नेह भरी बातें की थीं! उन्होंने तत्काल मुझे भाव-समाधि की अनुभूति तो नहीं करायी, पर हमेशा के लिये अपनी सन्तान के रूप में स्वीकार अवश्य कर लिया।

उद्बोधन में एक दिन माँ ने पूर्व बंगाल की एक बालिका को मंत्र दिया। दीक्षा के बाद उन्होंने उसके साथ बैठकर खाना खाया। इसके बाद उसे एक लोटा पानी देकर माँ बोलीं – ''हाथ धोओ।'' इसके बाद वे उसे और एक लोटा पानी देकर बोलीं – ''पाँव धोओ।'' लड़की रोने लगी। बोली – ''माँ! ऐसा आदेश मत दो।'' माँ ने पूछा – ''तुम मेरी कौन हो?'' वह बोली – ''मैं तुम्हारी बेटी हूँ।'' तब माँ ने कहा – ''तो जो कहती हूँ, सुनो। पैर धोओ।'' तब उसने पाँव धोये।

जयरामबाटी में एक दिन एक मुसलमान मजदूर खाने बैठा था। १९०५-०६ ई. के गाँव के एक निष्ठावान परिवार की बात कह रहा हूँ। प्रसन्न मामा की पुत्री नलिनी बरामदे से फेंक-फेंककर मजदूर को खाना दे रही थी। माँ किसी कार्य में थोड़ा व्यस्त थीं, दृश्य उनकी नजरों में आते ही उन्होंने – ''यह क्या रे'' कहकर नलिनी के हाथ से थाली को ले

* कृष्णचन्द्र सेनगुप्त द्वारा लिखित तथा जनरल प्रिन्टार्स एण्ड पाब्लीशर्स द्वारा प्रकाशित 'श्रीश्री लक्ष्मीमणि देवी' नामक बँगला ग्रन्थ से संकलित

लिया। फिर उसके पास बैठकर – "बेटा खाओ" कहकर यथाविधि उसे खिलाने लगीं। उसके बाद माँ ने वह जगह साफ करके गोबर का पानी छिड़का। इस पर नलिनी बोल उठी, "बुआ तुम्हारी जात गयी!" माँ ने कहा – "पुत्र की जूठन साफ करने से क्या जात चली जाती है?"

निवेदिता तो विदेशी महिला थीं। माँ उनकी भाषा नहीं जानती थी, तो भी वे निवेदिता के साथ बैठकर खाना खातीं। उनमें कैसी उदारता थी! इन सब उदाहरणों पर चर्चा करने पर हम समझ सकते हैं कि माँ का प्रेम कैसा अद्भुत था! इसी स्नेह के माध्यम से ही वे 'सबकी माँ' हो सकी थीं।

१९११ ई. में माँ दक्षिणी भारत गयी। बैंगलोर में वे एक सप्ताह थीं। उन दिनों की बातें मुझे प्राय: याद आती हैं। ठाकुर के भाव का तब उतना प्रचार नहीं हुआ था। माँ आश्रम देखने आयीं हैं – यह बात सर्वत्र फैल गयी। इन सात दिनों के दौरान मैसूर राज्य के दीवान से लेकर असंख्य गरीब-दुखी लोग आश्रम में आये। आश्रम का नौ बिघे का प्रांगण दर्शनार्थियों से भर जाता। माँ का इतना आकर्षण था! वे एक कमरे में चुपचाप बैठी रहतीं, थोड़ा-थोड़ा हँसती। वहाँ की भाषा न जानने के कारण उन्हें बड़ा कष्ट होता।

बैंगलोर में एक दिन ढाई-तीन बजे मैं माँ को फिटन में घुमाने ले गया। उस समय आश्रम में भीड़ नहीं थी। पास के ही गोवीपुर के गुफा-मन्दिर का दर्शन करके जब हम आश्रम लौटे, तब वहाँ भारी जन समूह एकत्रित था। मैं माँ से बोला – "देखिये, कितने लोग दर्शन के लिये आये हैं।" माँ गाड़ी से उतरीं। उनके पैरों में वातरोग था, अत: थोड़ा पैर घसीटते चलती थीं। माँ को देखकर दर्शनार्थियों ने दक्षिण की प्रथा के अनुसार उन्हें साष्टांग प्रणाम किया। माँ तत्काल वराभय-मूर्ति धारण करके समाधिस्थ हो गयीं। मुझे भय लगा कि माँ कहीं गिर न जायँ। उस दिन उन्होंने सभी के हृदय को आनन्द से परिपूर्ण कर दिया था। माँ के स्वाभाविक अवस्था में आने पर दर्शनार्थी लोग आनन्द मनाते हुए चले गये। एक ने कहा – "ये तो देवी हैं, हमारी सचमुच की माँ हैं।"

धर्म-जगत् में नारी सर्वदा एक पहेली रही है। भगवान बुद्ध, चैतन्य महाप्रभु, श्री शंकराचार्य आदि अवतारी पुरुषों के जीवन में नारी का कोई स्थान ही नहीं था। इनका मत था कि स्त्री-त्याग किये बिना परमार्थ की प्राप्ति नहीं होती। शिवावतार शंकराचार्य कहते हैं – "नरक का द्वार कौन हैं? – नारी।" सन्त कबीरदास ने एक दोहे में नारी को दिन को मोहिनी, रात को बाघिनी – कहा है। परन्तु रामकृष्ण-अवतार में ऐसा नहीं है। ठाकुर के विवाह के लिये जब कन्या की खोज हो रही थी, तो उन्होंने स्वयं ही कहा – "जयरामबाटी में राम मुखर्जी के घर कन्या 'चिह्नित' करके रखी हुई है।" माँ ठाकुर की वही चिह्नित कन्या हैं। साक्षात् जगदम्बा हैं। ठाकुर ने अन्य किसी को ग्रहण नहीं किया। चिह्नित कन्या के साथ रंगमंच पर वे जो अद्भुत लीला, जो सजीव अभिनय कर गये, वैसा उदाहरण जगत् के इतिहास में दूसरा नहीं मिलता।

कौरवों की सभा में जब द्रौपदी अपमानित हो रही थीं, तब युधिष्ठिर की सत्यनिष्ठा के कारण पाण्डव निष्क्रिय थे। सती की वेदना से भगवान श्रीकृष्ण की छाती धधक रही थी। दुर्गा-सप्तशती[१] में हैं – **स्त्रियः समस्ताः सकला जगत्सु**। श्रीरामकृष्ण और स्वामीजी ने भी स्पष्ट देखा था कि नारी-जाति के जागरण के बिना देश की उन्नति असम्भव है। सत्य-संकल्प स्वामीजी ने एक स्त्री-मठ की स्थापना की परिकल्पना की थी। माँ को केन्द्र बनाकर, गंगा के पूर्वीतट पर स्वामीजी ने स्त्रियों के मठ की जो परिकल्पना की थी, आज वह रूपायित हो रहा है। वहाँ संन्यासिनियाँ रहेंगी। उनके ऊपर बेलूड़ मठ का कोई अधिकार नहीं रहेगा।[२] एक अमावस्या की रात, माँ की षोडशी-बोध से पूजा करके ठाकुर ब्रह्म-कुण्डलिनी को जाग्रत कर गये हैं। भारत में फिर से मैत्रेयी, गार्गी आदि का आविर्भाव होगा। समग्र नारी-जाति में मातृभाव का उद्बोधन – षोडशी-पूजा का यही गूढ़ार्थ है।

यह ठाकुर और माँ का युग है। हमें उन्हीं के भाव में अपना जीवन-गठन करना होगा। माँ कम संसारी नहीं थी! महिलाओं को उन्हें आदर्श बनाकर, संसार में रहते हुए ही अपना आध्यात्मिक जीवन गढ़ना होगा।

माँ के एक उपदेश का मैं प्रतिदिन चिन्तन करता हूँ। लीला-संवरण के चार-पाँच दिन पूर्व मातृ-वियोग की कल्पना से शोकाकुल अन्नपूर्णा की माँ नामक एक महिला से माँ ने कहा था – "बेटी, यदि शान्ति चाहती हो, तो किसी के दोष मत देखना; दोष देखना अपने। जगत् को अपना बना लेना सीखो। बेटी, यहाँ कोई पराया नहीं है, सभी तुम्हारे अपने हैं।" नीम के वृक्ष में सब कुछ कड़वा है, लेकिन मधुमक्खी नीम के फूल में से भी मधु निकालकर ले जाती हैं, वैसे ही संसार में भी विभिन्न स्वभाव के लोग रहते हैं, परन्तु सभी माँ की ही सन्तान हैं। प्रत्येक के भीतर एक ही ईश्वरीय सत्ता विद्यमान है, अत: सभी को अपना समझना होगा।

माँ के इस अन्तिम उपदेश का पालन करने पर हमारा जीवन मधुमय हो उठेगा।*

❖ (क्रमशः) ❖

---

१. दुर्गा-सप्तशती, ११/६

२. दक्षिणेश्वर में गंगातट पर २ दिसम्बर १९५४ ई. को श्री सारदा मठ का उद्घाटन हुआ। रामकृष्ण मठ तथा मिशन के तत्कालीन अध्यक्ष स्वामी शंकरानन्द के हाथों यह उद्घाटन सम्पन्न हुआ।

* मालदह के श्रीरामकृष्ण मठ में ११ अप्रैल १९५४ ई. को पूज्य महाराज का दिया गया भाषण।

विवेकानन्द जयन्ती समारोह, २००७

प्रतिवर्ष की भाँति इस वर्ष भी रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर (छत्तीसगढ़) में विवेकानन्द जयन्ती के शुभ अवसर पर आश्रम के सत्संग-भवन में कई प्रतियोगिताओं का आयोजन किया गया, जिसमें अनेक विद्यालयों, महाविद्यालयों तथा पं. रविशंकर विश्वविद्यालय के छात्र-छात्राओं ने जोश-खरोश के साथ भाग लिया और अपने प्रभावशाली विचार प्रस्तुत किये। प्रस्तुत है उपरोक्त कार्यक्रम की विस्तृत रिपोर्ट –

२२ दिसम्बर, शुक्रवार के दिन अन्तर्विद्यालयीन विवेकानन्द भाषण प्रतियोगिता आयोजित की गई, विषय था – 'भारत के नव -निर्माण में विवेकानन्द की प्रासंगिकता'। विषय का प्रतिपादन करते हुये प्रथम पुरस्कार विजेत्री कुमारी अखिलेश्वरी ध्रुव ने कहा –''स्वामी विवेकानन्द वह आदित्य हैं, जिन्होंने अपने तेज से पूरे देश में नव-जागरण का प्रकाश बिखराया। वे भारतीय स्वतंत्रता के प्रेरणास्रोत थे। देश के नव-निर्माण के लिये उन्होंने युवकों का आह्वान किया तथा उनमें विश्वास जगाया। उन्होंने मानव-धर्म का प्रचार किया और सन्देश दिया – उठो जागो और जब तक लक्ष्य की प्राप्ति न हो तब तक रुको मत।'' द्वितीय पुरस्कार विजेता अखिल श्रीवास्तव ने स्वामीजी के उस उद्धरण को प्रस्तुत किया जिसमें वे कहते हैं – ''आगामी पचास वर्षों तक सभी देवी-देवताओं को भूल जाओ। तुम्हारा एकमात्र आराध्य हो भारत-माता।'' आनन्द शंकर झा ने कहा – ''युवको, तुम नरेन्द्रनाथ बनकर देखो, परमहंस दौड़े चले आयेंगे।'' श्रद्धा दूबे ने कहा – ''अध्यात्म के द्वारा ही चरित्र-निर्माण होगा, तभी इस देश का नव-निर्माण होगा।'' कुमारी विनीता गोयल ने कहा – ''ईश्वर की सेवा करने के पहले ईश्वर की सन्तानों की सेवा करनी होगी।''

इस सत्र की अध्यक्षता रविशंकर विश्वविद्यालय के फार्मेसी विभाग के अध्यक्ष प्रो. शैलेन्द्र सर्राफ ने किया। उन्होंने कहा – ''जामवन्तजी ने हनुमान जी को उनकी शक्ति की याद दिलाते हुए कहा कि पवन तनय बल पवन समाना...। कौन सो काज कठिन जग माहीं ... । उसी प्रकार आज के युवकों को उनमें निहित महान् शक्ति की याद दिलाने की आवश्यकता है।''

२३ दिसम्बर, शनिवार को अन्तर्महाविद्यालयीन तात्कालिक भाषण प्रतियोगिता थी। प्रथम पुरस्कार विजेता आनन्द शंकर झा ने 'पैसों पर पलती राजनीति' विषय पर बोलते हुए कहा – ''देश की जनता, विशेषकर युवा जब तक भ्रष्टाचार को रोकने के लिये नहीं जागेंगे, तब तक उच्चतम न्यायालय का कानून भी कुछ नहीं कर सकेगा।'' उन्होंने सदन से अपील की कि ऐसे अपराधी लोगों को लोकतंत्र में मत भेजिये। द्वितीय पुरस्कार विजेता मयंक मिश्रा ने 'भारतीय समाज में नारी का स्थान' विषय पर कहा – ''आज नारी जहाँ अन्तरिक्ष में उड़ानें भर रही हैं, वहीं कुछ नारियाँ आज भी शिक्षा आदि से वंचित हैं। उन्हें शिक्षित कर समाज-कल्याण के कार्यों में लगाया जा सकता है।'' दीपक नायडू का विषय 'पाश्चात्य संस्कृति का आक्रमण' था। उन्होंने कहा – ''पाश्चात्य संस्कृति की ऐसी हवा चली की मेरा सारा भारत लुट गया। आज भारत को देखकर ऐसा नहीं लगता कि यह वही भारत है, जहाँ के राम ने अपने पिता राजा दशरथ की सत्य-रक्षा हेतु सहर्ष चौदह वर्ष का वनवास ग्रहण किया और जो कृष्ण, बुद्ध, रामकृष्ण तथा विवेकानन्द जैसे महापुरुषों का देश हो। यहाँ लोग अपने वृद्ध मातापिता को वृद्धाश्रम में भेज देते हैं और टी. वी. का दुष्प्रभाव भी है।'' दीपिका शर्मा ने 'आधुनिक परिवेश में अभिभावकों की भूमिका' विषय पर कहा – ''आज के परिवेश में अभिभावकों की भूमिका बड़ी ही महत्त्वपूर्ण है। कहा भी गया है कि परिवार प्रथम पाठशाला है। अभिभावक का कर्त्तव्य है कि वे बच्चों को परस्पर सद्भाव, राष्ट्रप्रेम, समाज-सेवा आदि की शिक्षा दें।'' विनीता गोयनका ने 'राष्ट्रीय एकता और धर्म' विषय पर कहा – ''स्वामी विवेकानन्द, नेहरू, गाँधी आदि सभी महापुरुषों ने 'परहित सरिस धर्म नहीं भाई' को जीवन में अंगीकार किया। '**एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति**' इसी एकता का उद्घोष करता है। स्वामीजी ने शिकागो धर्म महासभा में '**रुचीनां वैचित्र्यात्** ...' से ही विश्व एकता का सन्देश दिया था।''

इस सत्र की अध्यक्षता करते हुये रविशंकर विश्वविद्यालय के अर्थशास्त्र के प्राध्यापक जे. एन. भारद्वाज ने कहा – ''अनेकता में एकता भारतीय संस्कृति की विशेषता है। राष्ट्रीय एकता और धर्म-परायणता भारतीय संस्कृति का मूल आधार है। हमारी इस संस्कृति पर पाश्चात्य संस्कृति का आक्रमण होने से इस आधुनिक परिवेश में अभिभावकों की भूमिका अत्यन्त महत्वपूर्ण हो गयी है। भारतीय समाज में नारी का स्थान महत्वपूर्ण है। वह युवा-शक्ति को एक नई दिशा दे सकती है। पैसों पर पलती राजनीति पर युवा-शक्ति की एक महत्वपूर्ण भूमिका होगी। भारतीय वैज्ञानिक प्रगति के बढ़ते कदम में वैज्ञानिक सोचवाली युवा-शक्ति ही आशा की केन्द्र-बिन्दु हैं और ये ही भारतीय संस्कृति के संवाहक भी हैं।''

२४ दिसम्बर, रविवार को अन्तर्महाविद्यालयीन वाद-विवाद प्रतियोगिता थी, जिसका विषय था – 'इस सदन की राय में देश में

बढ़ते हुये आतंकवाद की समस्या का समाधान केवल बल-प्रयोग की अपेक्षा नैतिक और आध्यात्मिक शिक्षा से अधिक सम्भव है।' प्रथम पुरस्कार विजेत्री खिलेश्वरी ध्रुव ने विपक्ष में कहा – "सैन्य बल से ही अमेरिका ने जापान की, भारत ने बांगलादेश की, इंदिरा गाँधी ने स्वर्णमन्दिर की और श्री अटल बिहारी वाजपेयी ने कारगिल की समस्याओं का समाधान किया।" ध्रुव ने आतंकवाद की नई परिभाषा देकर कहा कि इसे सैन्य-शक्ति से पूरी तरह कुचलना होगा, तभी शान्ति होगी। द्वितीय पुरस्कार विजेता श्री आनन्द शंकर झा ने विषय के पक्ष में कहा – "यदि आँख का जबाब आँख और हत्या का जबाब हत्या हो, तो इस तरह सारी मानवता समाप्त हो जायेगी। अपराध को मारो अपराधी को मत मारो। आतंकवाद एक विचारधारा है, उसे एक उज्ज्वल विचार-धारा ही मारेगी। बुद्ध ने अंगुलीमाल और बाबा भारती ने खड्ग सिंह के अपराधी जीवन को बदल दिया। उन्होंने आतंकवाद की समाप्ति के लिये निम्नलिखित सुझाव दिये – (१) पाठ्यक्रम में नैतिक शिक्षा – बच्चों को प्रारम्भ से ही नैतिक शिक्षा दिया जाय। (२) नारी शिक्षा - नारियाँ शिक्षित होकर अपने परिवार के बच्चों, पति आदि को नैतिकता, सद्भावना और परस्पर प्रेम की शिक्षा देंगी तथा होनेवाले अपराधों को रोकने में सहायता करेंगी। (३) संवेदना – लोगों के प्रति पूर्ण सहानुभूति बरतें। उनकी समस्याओं को सुनें और उनको सुलझाने में उनकी सहायता करें। (४) न्याय – हम उनके साथ न्याय करें। उनको धोखा ने दें। उनके साथ कपट न करें। जो उनके साथ अन्याय करता है, उसको सजा दें और गरीब लोगों के साथ न्याय करें। इस प्रकार आतंकवाद को समाप्त करने में हम बिना सैन्य-बल के भी सक्षम हो सकते हैं। इस सत्र की अध्यक्षता एन.आई.टी. के निदेशक प्रो. एम.एस. हम्बर्डे ने की।

२५ दिसम्बर, रविवार को अन्तर्विद्यालयीन वाद-विवाद प्रतियोगिता थी। विषय था – "इस सदन की राय में अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं का समाधान सैन्य-बल की अपेक्षा शान्ति-वार्ता से अधिक सम्भव है।" अधिकांश वक्ता सैन्य-बल के द्वारा समाधान के ही पक्ष में थे। यथा प्रथम पुरस्कार विजेत्री कुमारी शिवना तिवारी ने कहा – "यदि शान्ति-वार्ता से समाधान सम्भव होता, तो अटल-मुशर्रफ की आगरा शान्ति-वार्ता का परिणाम कारगिल-युद्ध नहीं होता।" द्वितीय पुरस्कार विजेत्री लक्ष्मी कांगे ने कहा – "यदि शान्तिवार्ता से समाधान होता, तो इराक-इरान, अमेरिका-अफगानिस्तान, भारत-पाकिस्तान, कुवैत आदि युद्ध क्यों होते? क्यों कश्मीर-समस्या ने कारगिल-युद्ध को जन्म दिया? क्यों आज भी नक्सल-समस्या बनी हुई है?" राजवीर बाहला ने कहा – "सम्राट् अकबर और रानी लक्ष्मीबाई ने सैन्य-बल से ही विजय प्राप्त किया था।" शान्ति-वार्ता के पक्ष में बोलते हुये प्यारे लाल ने कहा – "शान्ति के आदर्श हैं – **सर्वे भवन्तु सुखिनः, कृण्वन्तु विश्वम् आर्यम्**। आज की वार्ता शान्तिवार्ता नहीं है, वह तो सैन्य-शक्ति और अहंकारियों की मंत्रणा है। सच्ची शान्तिवार्ता से अवश्य समाधान होगा।" पार्थ झा ने कहा – "पंचशील सिद्धान्त का दुष्परिणाम है कि चीन ने हमारा २२,००० वर्ग मील जमीन हड़प लिया।" कुमारी अंकिता अग्रवाल ने कहा – "सैन्य-बल और हिंसा से कभी प्रेम उत्पन्न नहीं हो सकता।" आरांजा दूबे ने कहा – "**वसुधैव कुटुम्बकम्** – से पूरा देश और विश्व एक होगा।"

इस सत्र की अध्यक्षता करते हुए शासन के उच्च शिक्षा निदेशक श्री आर.जी. भावे ने कहा – "यदि हम लड़ेंगे तो किस-किससे लड़ते रहेंगे। अतः जो कार्य बिना लड़ाई के हो सकता है, उसे हमें अवश्य करना चाहिये, क्योंकि युद्ध से किसी का भला नहीं होता। हमें रचनात्मक कार्य करना चाहिये।" उन्होंने महान् वैज्ञानिक आइन्सटाइन के प्रेम-सद्भावना का उद्धरण देकर 'जय-जय स्वामी विवेकानन्द' नामक गीत के साथ अपना वक्तव्य समाप्त किया।

२६ दिसम्बर, मंगलवार को अन्तर्विद्यालयीन तात्कालिक भाषण प्रतियोगिता थी। प्रथम पुरस्कार विजेता अनिकेत झा ने 'सभी धर्मों का सम्मान' विषय पर कहा – "भारत का धर्म वह है, जो मनुष्य को मनुष्य बना दे, सबको एक-दूसरे से प्रेम करना सिखा दे। भारतवर्ष हमें यह सिखाता है कि अपने धर्म के साथ-साथ दूसरे के धर्म का भी सम्मान करना चाहिये।" द्वितीय पुरस्कार विजेत्री कुमारी अंकिता अग्रवाल ने 'भ्रष्टाचार कैसे मिटे' विषय पर कहा – "देश में होनेवाले घोटालों की राशि को मानव-कल्याण में लगाया जा सकता है, जिससे मानव का विकास होगा, देश का विकास होगा।" पार्थ झा ने 'जीवन का समुचित उपयोग' विषय पर कहा – "जीवन सत्यपूर्वक जीयें। आत्मविश्वास से जीयें। परस्पर प्रेम और परोपकारपूर्वक जीयें। जन-जागृति के द्वारा लोगों में जीवन के उपयोग की शिक्षा दें। विश्व-भ्रमण कर भारत को ऊँचा उठायें तथा सत्संगति तथा अहिंसा के मार्ग पर चलें। इसी में जीवन की सार्थकता है।" प्यारेलाल ने 'साक्षरता-अभियान' पर कहा – "शिक्षा के द्वारा ही व्यक्ति अपने देश की गरिमा एवं विश्व के बारे में जान सकता है। उसमें राष्ट्रप्रेम जाग्रत होता है। अतः देश के हर नागरिक का साक्षर होना अति आवश्यक है। उन्होंने कहा –

पंछी कहता है गगन बदलना है,
फूल कहता है चमन बदलना है।
श्मशान की लाशें यही कहती हैं,
लाशें वहीं हैं केवल कफन बदलना है।।

दीपक वैष्णव ने कहा -

क्या करने आये थे क्या कर बैठे,
कहीं मंदिर बना बैठे, कहीं मस्जिद बना बैठे।
अरे हमसे तो अच्छे वो परिन्दे हैं,
जो कभी मन्दिर में जा बैठे, कभी मस्जिद में जा बैठे।।

२७ दिसम्बर, बुधवार को अन्तर्विद्यालयीन विवेकानन्द भाषण प्रतियोगिता थी, विषय था – 'स्वामी विवेकानन्द के सपनों का भारत।' प्रथम पुरस्कार विजेत्री कुमारी शिवना तिवारी ने कहा – "स्वामीजी ने सभी प्रकार के जाति-वर्ण-भेद-रहित समाज की

कल्पना की थी। इसमें ऊँच-नीच, गरीब-धनी का कोई भेद नहीं रहेगा। युवाओं के बल पर एक शक्तिशाली राष्ट्र के निर्माण का उनका विचार था तथा धर्म किसी की निजी सम्पत्ति न होकर सबकी सम्पत्ति हो। यदि आज के राजनीतिज्ञ स्वामीजी के उपदेशों पर थोड़ा भी ध्यान दें, तो हमारी सारी समस्याओं का समाधान हो जायेगा।'' द्वितीय पुरस्कार विजेत्री कुमारी भावना ध्रुव ने कहा – ''स्वामीजी ने भारत के हर क्षेत्र में विकास एवं एक स्वर्णिम भारत का स्वप्न देखा था। उन्होंने वेदान्त को जीवन-शैली में अपनाना सिखाया।'' कुमारी लक्ष्मी कांगे ने कहा – ''स्वामीजी चाहते थे कि हमारा देश प्रगति के पथ पर हो। बूढ़े, गरीब सबको खाने के लिये अन्न, पहनने को वस्त्र और रहने को मकान हो तथा भारत एक सशक्त राष्ट्र बने।'' दीपक वैष्णव ने कहा –''आज मानवीय चेतना के मन्थन के बाद आधुनिक विष निकल रहे हैं। उन्हें पान करने के बाद मानवीय मूल्यों के रत्न निकलेंगे। स्वामीजी का देशप्रेम अनन्य था। स्वामीजी नवयुवकों को ज्ञान-अर्जन के साथ-साथ बल-अर्जन की भी शिक्षा देते थे। इसके लिये उन्होंने रामकृष्ण मिशन की स्थापना की। अनिकेत झा ने कहा – ''स्वामीजी चाहते थे कि भारत आत्मनिर्भर बने। भारत से सारी संस्कृतियाँ, सारी सभ्यतायें ऐसी उठें कि विश्व में इसका सर्वश्रेष्ठ स्थान हो।''

इस सत्र की अध्यक्षता करते हुए श्री असीम झा ने स्वामीजी के भारत के सर्वांगीण विकास के स्वप्न के साथ-ही-साथ राष्ट्रपति श्री अब्दुल कलाम जी के २०२० तक एक विकसित राष्ट्र बनने के स्वप्न को भी याद दिलाया और हम भारत माता के पुत्र हैं, इस पर एक संस्कृत श्लोक भी सुनाया। स्वामी सत्यरूपानन्द जी ने कहा – ''स्वामी विवेकानन्द जी ने कहा कि इस देश के पतन का कारण धर्म नहीं, अपितु धर्म का पालन नहीं करना है। सभी देशवासी स्वावलम्बी बनें। निरक्षरता दूर हो तथा सम्पूर्ण रूप से भारत-वासियों की दरिद्रता मिट जाय।

२८ दिसम्बर, गुरुवार को अन्तर्माध्यमिक शाला विवेकानन्द भाषण प्रतियोगिता थी, जिसका विषय था – 'युगपुरुष स्वामी विवेकानन्द।' प्रथम पुरस्कार विजेत्री कुमारी पारुल ठाकुर ने कहा – ''स्वामीजी ने कहा कि शरीर से बलशील बनो, मन से निर्भीक बनो, कार्य में कर्मनिष्ठ बनो और चरित्रवान बनो। नर की सेवा ही नारायण की सेवा है।'' कु. कृत्ति बेगानी ने कहा – ''स्वामीजी के हृदय में समूची मानवता के लिये दर्द भरा हुआ था। स्वामीजी के आदर्श युगों-युगों तक मानवता के लिये आदर्श प्रस्तुत करेंगे।'' सुशान्त झा ने कहा – ''स्वामी विवेकानन्द युगपुरुष, युगनायक और युगद्रष्टा थे। उन्होंने भारत को दुरावस्था से निकालने एवं पुनः शक्तिशाली बनाने के लिये अपना जीवन समर्पित कर दिया।'' नीलेश कुमार ने कहा – ''स्वामी विवेकानन्द मानव-जाति के आदर्श के रूप में प्रगट हुए। वे एक ऐसे दीपक हैं, जो स्वयं प्रज्वलित होकर दूसरों को भी प्रज्वलित करते हैं।'' कुमारी पायल कापसे ने कहा – ''स्वामी विवेकानन्द के हृदय में प्रारम्भ से ही **वसुधैव कुटुम्बकम्** की भावना थी। उनमें गरीबों के प्रति सेवा-भावना थी। स्वामीजी अभी भी हैं, वे मृत्युञ्जय हैं।''

सत्र की अध्यक्षता बालिका स्नातक महाविद्यालय दूधाधारी, रायपुर की प्रो. डॉ. अरुणा पलटा ने की। उन्होंने अपने रोचक एवं प्रेरक व्याख्यान में कहा – ''स्वामी विवेकानन्द की सोच केवल सकारात्मक थी। उनमें नकारात्मक कुछ भी नहीं था। केवल इसे ही जीवन में उतारने से व्यक्ति की समस्याओं का समाधान होगा।'' उन्होंने इससे सम्बन्धित एक कहानी भी सुनाई – दो भाई थे। एक अपने पिता के गुणों को देखकर उन्हें अपने जीवन में अपनाता है और दूसरा उनके अवगुणों को देखकर अवनति की ओर जाता है। जैसा दृष्टिकोण होगा, वैसा ही जीवन-निर्माण होगा। इसके दृष्टान्त के रूप में तीन भाइयों की एक कहानी सुनाने के बाद अन्त में उन्होने कहा – ''सफलता का कोई शार्ट-कट (संक्षिप्त मार्ग) नहीं होता। इसके लिये पूरी कीमत चुकानी पड़ती है।'' उन्होंने एक पक्षी की कहानी सुनाई, जो बिना शिकार करके खाने के लिये शिकारी को एक-एक कर अपने सारे पंख दे देता है। अन्त में पंखरहित होकर वह उड़ भी नहीं सकता है और बिना पंख के शिकारी भी उसे दाना देना बन्द कर देता है। वह पक्षी भूख से तड़प कर मर जाता है।

२९ दिसम्बर शुक्रवार को अन्तर्माध्यमिक शाला वाद-विवाद प्रतियोगिता थी, जिसका विषय था – 'इस सदन की राय में विद्यार्थी जीवन की सफलता शिक्षकों की अपेक्षा अभिभावकों पर अधिक निर्भर है।' प्रथम पुरस्कार विजेता सुशान्त झा ने विपक्ष में कहा – ''विद्यार्थी जीवन का आरम्भ ही शिक्षक के सान्निध्य में होता है, अतः शिक्षक का योगदान ही अधिक है। शिक्षक कच्चे मिट्टी की तरह हमें सँवारता है, हमारा विकास करता है और हमारी समस्याओं का समाधान करता है। इसीलिये कहा गया है –

गुरु गोविन्द दोनों खड़े, काको लागूँ पाय।
बलिहारी गुरु आपकी, गोविन्द दियो बताय।।
काकचेष्टा बकोध्यानं श्वाननिद्रा तथैव च।
अल्पाहारी गृहत्यागी विद्यार्थी पंचलक्षणम्।।

''विद्यार्थी के इन पाँच लक्षणों के पालन में माता-पिता का प्यार बाधक बनता है, किन्तु शिक्षक नहीं। शिक्षक कभी माता-पिता-भाई-मित्र की तरह प्यार करके और कभी यथोचित शासन द्वारा दण्ड देकर विद्यार्थी के जीवन को महान बनने में सहायता करते हैं।'' कुमारी पल्लवी दूबे ने विपक्ष में कहा – ''गुरु एक मित्र है, जो समय-समय पर सही गलतियाँ बताकर सही मार्ग दिखाता है। गुरु शिष्य को कीट से भौंरा बना देता है।'' कुमारी पूजा अग्रवाल ने विषय के पक्ष में कहा – ''परिवार प्रथम पाठशाला है। गणेशजी ने माता को पृथ्वी और पिता को आकाश से भी बड़ा माना। शिवाजी ने अपनी माँ से ही प्रेरणा पाकर देश के लिये अपना जीवन न्यौछावर किया। वर्तमान राष्ट्रपति डॉ. कलाम जी ने अपनी माँ से ही शिक्षा पायी थी। शिक्षक बहुत से बच्चों में स्कूल में सभी बच्चों पर विशेष ध्यान नहीं दे सकते, पर अभिभावक बच्चों के लिये अधिक समय

देकर उन्हें विकसित कर सकते हैं। कुमारी दीपशिखा पारख ने पक्ष में सीधे अध्यक्ष महोदय से ही प्रश्न पूछा – ''आपको इस योग्य किसने बनाया माता-पिता ने या शिक्षकों ने? **माता शत्रु वैरी पिता येन बालो न पाठितः** – वे माता-पिता शत्रु हैं, जो अपने बालकों को नहीं पढ़ातें। शब्दार्थ दूबे ने कहा – ''प्यासे को पानी शिक्षक पिलाता है, परन्तु उसे कुएँ तक अभिभावक ही तो लाता है।''

सत्र की अध्यक्षता श्री कामेश्वर राव जी ने की। उनका भाषण प्रेरक था और परिणाम सुनाने की पद्धति मनोरंजक थी। दीपशिखा के प्रश्न का उत्तर देते हुए वे बोले – ''मैं इस योग्य निश्चय ही शिक्षक के कारण बना हूँ। गुरु शिक्षक और अभिभावक दोनों ही हो सकते हैं। यहाँ शिक्षक का अर्थ है, जो किसी निर्धारित संस्था में निर्धारित समय में शिक्षा प्रदान करता है। विद्यार्थी-जीवन में सफल होने के लिये शिक्षक के अलावा और कोई दूसरा सहायक हो सकता है, ऐसा मुझे नहीं लगता।'' सदन की राय भी शिक्षकों के पक्ष में थी।

३० दिसम्बर, शनिवार को अन्तर्प्राथमिक पाठ-आवृत्ति प्रतियोगिता थी, जिसमें छोटे-छोटे बच्चों ने 'विवेकानन्द साहित्य' से पाठ किया। अधिकांश बच्चों ने 'अग्निमंत्र' और 'राष्ट्रभक्ति का आदर्श' का पाठ किया। प्रथम पुरस्कार विजेता मानवेन्द्र ठाकुर ने स्वामीजी के अग्निमंत्र का बड़े ही ओजस्वी वाणी में पाठ किया और कहा – असफलतायें जीवन का सौन्दर्य हैं। इनकी चिन्ता मत करो और लक्ष्य की ओर आगे बढ़ते जाओ। द्वितीय पुरस्कार विजेता घनश्याम ने स्वामीजी के द्वारा लिखित राष्ट्रभक्ति के आदर्श का पाठ किया। कुमारी पारुल साहू ने कहा – ''मैं सत्य की शिक्षा देना चाहता हूँ, चाहें यहाँ हो या वहाँ।'' कुमारी ध्वनि सचेती ने स्वामी जी की एक कविता 'अवाङ्मनसगोचरम्' का पाठ किया और अन्त में कहा कि मैं इस आशा से चली जाती हूँ कि फिर कोई नरेन्द्र होगा। शिरीष चन्द्राकर ने अग्निमंत्र का पाठ करके कहा कि यदि ईश्वर-प्राप्ति करना चाहते हो, तो मानव की सेवा करो तथा 'माँ हमें मनुष्य बना दो' – गीत सुनाया। रनिंग शिल्ड विजेत्री कुमारी तान्या शर्मा ने कहा – ''**मातृदेवो भव, पितृदेवो भव,** मूर्ख देवो भव, दरिद्रदेवो भव, चाण्डाल देवो भव । ईश्वर को ढूँढ़ने कहाँ चले हो? क्या गरीब ... ईश्वर नहीं हैं? धन्य पाने वाला नहीं, देनेवाला होता है। दूसरों की सेवा करो, चाहें अपने को नरक में ही क्यों न जाना पड़े।'' अन्त में अवसर का लाभ उठाकर कुमारी तान्या शर्मा और समृद्धि शर्मा ने एक भजन सुनाया – 'नमन करूँ मैं सद्गुरु चरना'। इस सत्र की अध्यक्षता प्रो. बालचन्द कछवाहा जी ने की।

१ जनवरी, सोमवार को छत्तीसगढ़ के महामहिम राज्यपाल श्री के. एम. सेठ ने 'विवेकानन्द जयन्ती समारोह' का उद्घाटन किया। उन्होने कहा कि स्वामी विवेकानन्द ने अपनी आवाज उस समय बुलन्द की, जब देश गुलाम था। आज देश स्वतंत्र होने के बाद भी उनकी प्रासंगिकता बनी हुई है, क्योंकि असमानता, विषमता, गरीबी, बीमारी और जन-जीवन में ऐसी अनेक कठिनाइयाँ अभी बनी हुई हैं। वे सर्वधर्म-सद्भाव पर विशेष बल देते थे। धार्मिकता, सहिष्णुता तथा पवित्रता पर किसी का एकाधिकार नहीं है। कार्यक्रम का प्रारम्भ 'जन-गण-मन' के सांगितिक वाद्य-गीत एवं विवेकानन्द विद्यार्थी भवन के छात्रों द्वारा गाये गये 'मनुष्य तू बड़ा महान् है' – गीत से हुआ। रविशंकर विश्वविद्यालय के कुलाधि-सचिव, डॉ. ओमप्रकाश वर्मा ने आश्रम की ओर से सबका स्वागत किया तथा सभा का संचालन भी किया। रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर के सचिव स्वामी सत्यरूपानन्द जी ने आगत अतिथियों को आश्रम के इतिहास एवं गतिविधियों से अवगत कराया। सभा की अध्यक्षता रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, नारायणपुर (बस्तर) के सचिव स्वामी निखिलात्मानन्द जी महाराज ने की। उन्होंने कहा – ''प्रत्येक क्षेत्र में नारियों की अग्रणी भूमिका, जन-साधारण के उत्थान और सर्वसाधारण की शिक्षा से स्वामी विवेकानन्द जी का स्वप्न साकार होता हुआ दिख रहा है।'' अन्त में सभा के विशिष्ट अतिथि श्री के. एम. सेठ ने विजेता छात्र-छात्राओं को पुरस्कार वितरित किया तथा छात्रों की प्रस्तुति से अत्यन्त प्रसन्न हुए। प्रतियोगिता के सम्पूर्ण सत्रों का संचालन स्वामी निर्विकारानन्द जी ने किया।

२ जनवरी, मंगलवार से लेकर ५ जनवरी शुक्रवार तक श्री उमाशंकर व्यास जी के प्रतिदिन 'हनुमत् चरित' पर प्रवचन हुये और ६ से १२ जनवरी तक स्वामी राजेश्वरानन्द सरस्वती (राजेश रामायणीजी) के 'भरत-चरित' पर संगीतमय प्रवचन हुए।

१२ जनवरी, शुक्रवार को रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर और रविशंकर विश्वविद्यालय की राष्ट्रीय सेवा योजना ने विश्वविद्यालय परिसर में संयुक्त रूप से 'राष्ट्रीय युवा दिवस' मनाया, जिसमें विश्वविद्यालय की शहरी ईकाइयों ने भी उत्साह के साथ भाग लिया। इस सभा की अध्यक्षता करते हुए विश्वविद्यालय के कुलपति डॉ. लक्ष्मण चतुर्वेदी ने कहा – ''आज के दिन हमें आत्मचिन्तन करना चाहिये कि हममें कोई त्रुटि तो नहीं रह गयी है और उसका सुधार करना चाहिये। स्वामी विवेकानन्द जी के साहित्य और प्रवचनों से हमें यह आभास होना चाहिये कि हम क्या करें और क्या नहीं। क्योकि जो विवेकशील है, उसे स्वतः आनन्द मिलेगा। स्वामीजी के इस पावन दिवस पर अगले वर्ष पूरे दिन भर का विश्वविद्यालय-स्तर का कार्यक्रम आयोजित किया जायेगा, जिसमें विश्वविद्यालय के अतिरक्त अन्य महाविद्यालय और नागरिक भी भाग लेकर स्वामीजी से प्रेरणा प्राप्त कर सकें। इस कार्यक्रम की रूपरेखा का दायित्व मैं डॉ. ओमप्रकाश वर्मा जी को सौंपूँगा। हम शिक्षक हैं। कर्म ही प्रधान है, इसे हम याद रख सकें और हम सबकी यह जिम्मेदारी है कि बच्चों की चमकती हुई आँखों की चमक फीकी न होने पाये।'' इसके बाद डॉ. ओमप्रकाश वर्मा, श्री के.के. चन्द्राकर, श्री डी. आर. नायक तथा स्वामी सत्यरूपानन्द जी के प्रेरक व्याख्यान हुए।

(प्रस्तुति - सन्नूराम बड्डे और फूलचन्द कांगे, विवेकानन्द विद्यार्थी भवन, रायपुर)